Printed by K. Mittra, at
The Indian Press, Ltd.,
Allahabad.

विषय-सूची

५

के प्राय: ममः

महानुभूति प्राप्त कर

उद्धव
शतक

दो शब्द

ईश्वरानुकम्पा से आज हम इस पुस्तक के रूप में अपने गुणग्राही, सहृदय तथा प्रेमी पाठकों के सम्मुख यह प्रणति प्रस्तुत करते हैं। साहित्य-मर्मज्ञ ब्रजभाषाचार्य्य महाकवि श्री बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' के परम प्रतिभावान् रुचिर-रत्नों का यह अनुपम हार हमें उदारतापूर्ण उपहार के रूप में प्राप्त हुआ है।

हमारा 'रसिक-मण्डल', जिसने अपनी चार वर्ष की ही सेवा से हिन्दी के प्रायः सभी सहृदय विद्वानों, आलोचकों और कविवरों आदि की स्नेहमयी सहानुभूति प्राप्त कर ली है—श्री 'रत्नाकर' जी की उदार कृपा का, कहना

पाश्चात्य कवि एवं विद्वान् भी काव्य की कई परिभाषाएँ देते हैं। उनमें भी इस सम्बन्ध में मत-भेद है। अस्तु, कह सकते हैं कि अद्यावधि काव्य की निश्चित रूप से एक सर्वमान्य परिभाषा नहीं प्राप्त हो सकी, और हमारी समझ में प्राप्त भी नहीं हो सकती, क्योंकि—"भिन्नरुचिर्हि' लोकः" उसके मार्ग में एक बहुत बड़ा प्रतिबन्धक है। हम जिसको काव्य मानते हैं उसमें निम्नांकित लक्षणों का होना आवश्यक या अनिवार्य है:—

काव्य में:—

(१) सुन्दर और मनोरंजक भाव हों।

(२) चमत्कृत शैली से, भावों का वैचित्र्य के साथ सुव्यवस्थित एवं काव्योचित भाषा में अभिव्यञ्जन हो।

(३) सरसता और कोमलता लिये हुए सुन्दर पदावली हो।

परिभाषा बनती है कदाचित् इसमें कोई भी मत-भेद नहीं हो सकता। हम इसी परिभाषा को मान कर अपने प्रस्तुत काव्य का आलोचन करेंगे और देखेंगे कि इसमें इन सब लक्षणों की सत्ता है या नहीं और यदि है तो कितनी और किस रूप में है।

काव्य की आलोचना—आलोचना शब्द का अर्थ है सब प्रकार देखना, काव्य के आलोचन में, काव्य को अच्छी तरह देखना चाहिए। पहिले जो लक्षण काव्य के दे दिये गये हैं उन्हें किसी प्रस्तुत काव्य में खोजकर निकालना चाहिए। यदि वे सब लक्षण उसमें उपस्थित हैं तब उसे काव्य मान कर फिर ध्यान से उसकी सब बातों पर विचार करना चाहिए। निष्कर्ष रूप में हम कह सकते हैं कि किसी काव्य में यह देखना कि उसकी भाषा, उसकी शैली, उसकी आन्तरिक विचारावलि अथवा भावमाला,

है और उसके दोषों पर भी निष्पक्षभाव से यथोचित प्रकाश डाला जाता है।

सत्काव्य तो वही है जिसमें दोषों का अभाव और सद्गुणों का प्रत्यक्ष ही पूरा प्रभाव हो। तो भी इस विचार के अनुसार कि भूल करना मानव-स्वभाव है (To err is human) काव्य के कतिपय दोषों को हम छोड़ सकते हैं और उसके गुणों पर ही पूर्ण प्रकाश डाल सकते हैं। कहा भी है "गुणाः ग्राह्याः दोषाः त्याज्याः" अर्थात् गुण ग्राह्य हैं और दोष त्याज्य हैं।

"संत-हंस गुनपय गहहिं, परिहरि बारि-बिकार"

हम इसी आधार पर प्रस्तुत काव्य की मार्मिक और सूक्ष्म आलोचना अपने सुबोध और सहृदय पाठकों के सम्मुख उपस्थित करने का प्रयत्न करेंगे और अपना मत देकर पाठकों पर ही उसके सदसद् होने का निर्णय छोड़ेंगे।

आलोचना की आवश्यकता—हमारे यहाँ प्राचीन काल से यही रीति प्रचलित रही है कि किसी जीवित कवि के काव्य की आलोचना न की जाय, क्योंकि उसका जीवन-काल जब तक समाप्त न हो जाय तब तक उसकी प्रतिभा की सीमा का अन्तिम प्रोत्कर्ष अथवा पूर्ण विकास निश्चित रूप से निर्धारित नहीं किया जा सकता। उसकी प्रतिभा, उसके जीवन-काल में सदैव प्रगतिशील बनी रहती है। इसलिए उसकी किसी एक ही कृति को लेकर उसी से सब निश्चित बातों का निकालना और उसके स्वरूप का निर्धारित करना सर्वथा सत्य न होगा। किन्तु अब वर्तमान समय में पाश्चात्य भावों के प्रभाव से यह परिपाटी लुप्तप्राय-सी हो गई है, और अब जीवित कवियों की कृतियों पर भी हमारे सुयोग्य समालोचक महोदय प्रकाश डालने लगे हैं। लोगों का विचार है कि ऐसा करने से कवि और उसके काव्य दोनों का हित होता है।

यदि उसकी रचना सत्काव्य है और आलोचना की कसौटी पर कसे जाने से श्लाघनीय होती है तो कवि अपने सुधामय कीर्ति-फल का आस्वादन कर अपना अभीष्ट आनन्द अपने इसी जीवन में प्राप्त कर लेता है और अपने श्रम को सफल पाकर सिद्धमनोरथ भी हो जाता है। यदि उसका काव्य कुछ दोष-मय है और सुयोग्य आलोचकों के द्वारा निष्पक्षभाव से उसके काव्य-गत दोष सूचित किये गये हैं तो वह अपना सुधार कर सकता है और आगे अपने काव्य को निर्दोष बनाने का प्रयत्न कर सकता है। लोगों का यह विचार बहुत अंश तक ठीक भी है। प्रस्तुत काव्य के रचयिता हिन्दी-संसार में सुविख्यात स्वनामधन्य श्री बाबू जगन्नाथदासजी 'रत्नाकर' बी० ए० हैं, जिनके विषय में हम ही क्या, लोक-स्वर भी यही कहता है कि हिन्दी-संसार में वे इस वर्तमान समय के अग्रगण्य महाकवि और ब्रज भाषा के प्रधान आचार्य हैं।

३—मुक्तक—जिसमें प्रायः ऐसे मुक्तात्मक छन्द रहते हैं जो स्वतन्त्र रूप से अपने पूर्ण भावों को बिना किसी प्रकार की बाहरी सहायता के प्रकट करते हैं।

अब यदि हम प्रस्तुत काव्य को देखते हैं तो ज्ञात होता है कि इसमें प्रबन्ध काव्य और मुक्तक दोनों का सुन्दर सामञ्जस्य है, अर्थात् इसमें एक घटनाविशेष की कथा भी है और साथ ही इसका प्रत्येक छन्द स्वतन्त्र सा भी है। नाटक के समान यद्यपि हम इसे दृश्यकाव्य नहीं कह सकते तो भी हम इसे चित्रोपम (समूर्त) काव्य अवश्य कह सकते हैं, क्योंकि इसके पढ़ने पर ऐसा ज्ञात होता है मानो कवि किसी चित्र-पट पर चित्र चित्रित कर रहा है, जिसके अनुरूप पढ़ते समय हमारे मस्तिष्क पर भी चित्र खिंचते जाते हैं।

सतसई में भी पूरे सौ दोहे नहीं हुआ करते वरन् उनकी संख्या कुछ अधिक रहती है।

चूँकि सतसई दोहा-पद्धति के लिए ही रूढ़ि सी होगई है, इसी लिए इसका नाम सतसई पर न रक्खा जाकर संस्कृत की शतक शैली के आधार पर 'उद्धव-शतक' रक्खा गया है। इस 'उद्धव' शब्द के द्वारा इस काव्य की वस्तु का परिचय भी प्राप्त हो जाता है।

कथावस्तुः—इस काव्य में गोपियों और कृष्ण से सम्बन्ध रखनेवाली उस घटना का चित्रण किया गया है जिससे हिन्दी-जनता भक्त कवियों की कृपा से भली-भाँति परिचित है। इसकी कथा-वस्तु का निष्कर्ष यह है:—भगवान् श्रीकृष्ण अपने मित्र ज्ञानी उद्धव को अपना पत्र-वाहक बना कर (इसी व्याज से) गोपियों के निकट भेजते हैं। 'उद्धव' जी गोकुल में पहुँच

वह गोपियों से मिलते हैं और उनसे ज्ञान एवं योग-साधना शास्त्रार्थ करते और उन्हें उपदेश देते हैं। गोपियाँ उत्तर में विशुद्ध प्रगाढ़ प्रेम-पूर्ण हार्दिक भावों से उमड़ती हुई उद्धव की योग-ज्ञान-साधना बातों को काट देती हैं और 'उद्धव' को इस प्रकार प्रभावित करती हैं कि वे भी उन्हीं के समान कृष्ण-भक्ति के रंग में रंग जाते हैं। वे वहाँ से आकर कृष्ण के समीप भक्त के ही रूप में गोपियों की दशा एवं उनके संदेश का कथन करते हैं और उन्हें गोपियों पर कृपा करने की अनुमति देते हैं।

इस प्रकार इसमें केवल एक छोटी सी ही घटना का वर्णन किया गया है और इसी कथा-वस्तु का ऐसा उत्कर्ष दिखलाया गया है कि इसमें ज्ञान और योग की अपेक्षा भक्ति और प्रेम की महत्ता अधिक जँचने लगती है। इसी प्रकार यद्यपि सूरदास आदि दूसरे भक्त कवियों ने भी किया है तथापि

इसमें किसी प्रकार भी उसका भावापहरण नहीं हो सका वरन् सर्वत्र मञ्जुल मौलिकता का ही प्राधान्य तथा प्राबल्य प्राप्त होता है। जैसा हमने पहले लिखा है, यह प्रबन्ध-काव्य होता हुआ भी मुक्तक काव्य की शैली में लिखा गया है और इसका प्रत्येक कवित्त अपनी स्वतन्त्र सत्ता और महत्ता रखता है।

एक विशेष बात, जो इसमें और देखने को मिलती है, यह है कि इसमें वार्तालाप या कथोपकथन का भी समावेश किया गया है और वह भी छन्दों ही से। अस्तु, कह सकते हैं कि यह छन्दबद्ध कथोपकथन के भी रूप में होकर वार्तात्मक काव्य भी है। सुन्दरता इसमें यह है कि पारस्परिक वार्तालाप का निर्वाह कवित्त जैसे बड़े छन्द में भी सफलता के साथ किया गया है और उसमें सब प्रकार स्वाभाविकता, सरलता और स्पष्टता रक्खी गई है।

निर्गुणोपासना के, जिसका उपदेश 'उद्धव' ने दिया है, विरोध में स्त्रियाँ अपने स्वाभाविक भावों के अनुसार अनेक बातें कहती हैं और सगुणोपासना की महत्ता को स्थापित करती हुई 'उद्धव' को उपहसित-सा करती हैं। हठयोग से शरीर में जो रूपान्तर हो जाते हैं उनको भी गोपियाँ अपनी सौन्दर्य-रक्षा के प्रतिकूल समझकर बुरा बताती हैं और कृष्ण को प्रसन्न करनेवाले अपने शारीरिक सौन्दर्य को नहीं त्यागना चाहतीं।

'उद्धव' ने ब्रह्म को विश्व-व्यापी और अनन्त कह कर योग के द्वारा त्रिपुटी में उसे आन्तरिक चक्षुओं से देखने का विधान बताया है। गोपियाँ अपने स्वाभाविक सारल्य से इसे न समझ कर असम्भव और सन्दिग्ध मानती हैं। उनका कहना है कि अरूप, अनन्त और अखण्ड विश्व-व्यापी ब्रह्म त्रिपुटी में कैसे देखा जा सकता है (कवित्त नं० १६)।

योग का अर्थ वे संयोग से लेकर उद्धव के विरति-वियोगात्मक योग के विधान को असंगत बताती हैं।

भक्ति-सिद्धान्त के अनुसार भक्त अपने इष्ट-देव के साहचर्य को ही सर्वश्रेष्ठ अभीष्ट पदार्थ मानता है। मुक्ति उसके लिए कुछ विशेष महत्ता नहीं रखती, यही भाव गोपियों का भी है।

योग के द्वारा श्वास को अन्दर प्रविष्ट करके, गोपियाँ अपनी वियोगाग्नि को प्रज्वलित नहीं करना चाहतीं, क्योंकि वायु से अग्नि और बढ़ती है, (कवित्त नं० ११)। क्या ही सुन्दर उक्ति है।

अव्यक्त और अरूप ब्रह्म के विरोध में उनका कहना है कि यदि ब्रह्म रूप, रंग और अङ्ग से रहित है (वह अनङ्ग है) तो हम उसकी आराधना नहीं करना चाहतीं, क्योंकि एक ही अनंग (अंग-हीन कामदेव) से वह दुर्दशा

हो गई है, दूसरे में न जाने क्या हो (कवित्त नं० ४५)। यहाँ बड़ी ही चातुरी से निराकारता को उपहसित किया गया है।

योगी और वियोगी की तुलना बड़े ही चमत्कृत ढंग से करके गोपियाँ अपने लिए योग की अनावश्यकता दिखलाती हैं। कहीं कहीं आवेश में आकर वे—"बैरी हैं न ऊधौ ! काहू ब्रज के बधा की हम" तक कह डालती हैं। कृष्ण-ध्यानानन्द तथा कृष्ण-वियोग के दुःख में गोपियाँ ब्रह्मानन्द से भी अधिक सुख मानती हैं, सच्चे भक्त और प्रेमी का यही आदर्श भी है, (कवित्त नं० ४१)।

'उद्धव' के श्यामवर्ण शरीर के विचार को बड़े ही चातुर्य्य से गोपियों ने 'उद्धव' पर ही घटित करते हुए व्यक्त किया है। इस भाग का ५० वाँ कवित्त वस्तुतः अत्यन्त मौलिक और रोचक है। वस्तुतः गोपियों का यह कथन

'उद्धव' को विलग करने से सर्वथा अलग् जान पड़ता है। यहाँ गोपियों के स्वाभाविक सारल्य और अज्ञान का कैसा सुन्दर नमूना है। परमात्मा में आत्मा को लीन करके अपने अस्तित्व और अपनी स्वतन्त्र सत्ता का नाश करना गोपियाँ आत्म-सम्मान के लिए अभीष्ट नहीं मानतीं (कवित्त नं० २१)। ठीक भी यही है।

प्राणायाम के विरोध में गोपियों का भोला-भाला कथन बड़ा ही मनोरञ्जक है। वे कहती हैं:—"एकै बार ह्वैहैं मरि मीन की कृपा सौं हम, हौंकि हौंकि साँस बिन मीच मारिबो कहा"।

बिना ब्रह्मज्ञान के शोकरूपी भवसागर में पड़ने का जो डर 'उद्धव' ने दिखलाया है गोपियाँ उसे इस आधार पर नहीं मानतीं कि वे मीन के समान ... प्रणय-रत्नाकर में निमग्न हैं।

गोपियाँ कृष्ण के मिल जाने पर ही योग आदि सब बातों के स्वीकार करने की बात कहती हैं।

इनका कहना है कि हम अपने प्राण पट पर श्रीकृष्ण के चित्र को चित्रित कर अपने साथ ले जायँगी और ब्रह्म के रूप से उसे मिलायेंगी, यदि वह मिल गया तो बड़ी प्रसन्नता से ब्रह्म से मिल जायँगी नहीं तो (उसके न मिलने पर) फिर यहीं वापस आवेंगी। (कवित्त नं० ६१)

दृष्टि-कोण के भेद से ही वस्तुओं आदि में भेद दीखने लगता है। इसी से गोपियों का कहना है—

"ऊधौ ब्रह्मज्ञान कौ बखान करते ना नैकु,
देख लेते कान्ह जो हमारी अँखियान तैं"।

उद्धव के ज्ञानाडम्बर के प्रचार को देख गोपियाँ तनिक धमकी के साथ कहती हैं कि—

"यह वह सिन्धु नाहिं सोखि जो अगस्त्य लियो,
ऊधौ यह गोपिन के प्रेम को प्रवाह है।"

अब आगे बढ़ कर वे 'उद्धव' पर दोषारोपण भी करती हैं और बड़ी ही सुन्दरता से उसमें अपने अहित की आशङ्का करती हैं। (कवित्त नं० १८)

लोकोक्ति है कि—"जैसे दाध्यो दूध को पीवत छाछहिं फूँकि।"

ठीक यही दशा गोपियों की भी है, क्योंकि अक्रूर ने आकर उनके साथ एक प्रकार से (कृष्ण को ले जाकर) विश्वासघात-सा किया था। इसी लिए अब वे उद्धव का भी विश्वास नहीं करतीं और कहती हैं:—

"लै गयो अक्रूर क्रूर तब सुख-मूर कान्ह,
आये तुम आज प्रान-ब्याज उगाहन को।"

सपत्नीक-भाव के उठने पर वे उद्धव को कुब्जा की ओर से आया हुआ समझती हैं और इसी लिए उन पर विश्वास भी नहीं करतीं।

"रसिक सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ,
मेरी जान ऊधौ! कूर कुब्जा पठाये हौ।"

उद्धव का ज्ञान वस्तुतः गोपियों की अथाह भक्ति में ऐसा लुप्त हो जाता है कि उद्धव बस मन्त्र-मुग्ध से ही खड़े रह जाते हैं। इस प्रकार ज्ञान और योग के ऊपर भक्ति और प्रेम की विजय होती है। भक्तों का सदा ही से यही सिद्धान्त चला आया है:—

"गुरु बिन होइ कि ज्ञान, ज्ञान कि होइ बिराग बिन।
गावत बेद-पुरान, सो कि होइ हरि-भक्ति बिन॥" —तुलसी

हमारी समझ में भक्ति और प्रेम के ज्ञान और योग पर विजय पाने का मूल-सिद्धान्त हार्दिक-अनुभूति का बोध-वृत्ति से गुरुतर होना ही है।

मानसिक भावनाओं की अनुभूति में मनोवृत्तियों (Feelings) और बोध-वृत्तियों (Cognitive Faculties) दोनों के धर्मों का पर्याप्त सामञ्जस्य रहता है। भक्ति और प्रेम का इसी में समावेश है। अतएव इनमें भी इन्हीं दोनों तत्त्वों की व्याप्ति रहती है। किन्तु बोधवृत्ति में मानसिक भावनाओं की अनुभूति के अंश का होना आवश्यक नहीं। इसी लिए बोधवृत्ति-सम्बन्धी ज्ञान में भी भावनाओं की अनुभूति नहीं रहती, और वह एक-देशीय ही रहता है। योग में तो वृत्तियों का नितान्त निरोध ही होता है:—

"योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।" —योगशास्त्र

इसी लिए मन और मस्तिष्क दोनों के तत्त्वों से निर्मित होनेवाली प्रेममयी भक्ति केवल मस्तिष्क-तत्त्व-जन्य ज्ञान और वृत्ति-निरोधोत्पन्न योग से सर्वथा बढ़कर ठहरती है। इसी विचार से भागवत आदि भक्ति-

प्रधान ग्रन्थों में ज्ञान और योग के मूर्तिमान् उद्धव प्रेम-मयी भक्ति की मूर्तिमती गोपियों से पराजित से हो जाते हुए दिखलाये गये हैं।

'रत्नाकर' जी ने इस सम्बन्ध में अपने जो मौलिक दार्शनिक विचार, जिनकी ओर हमने ऊपर संकेत किया है, दिये हैं, वे वस्तुतः हमारी समझ में और किसी भी कवि ने, जिसके द्वारा इस प्रसंग का काव्य रचा गया है, नहीं दिये।

पाठक कवित्त नं॰ ३७, ३९, ४०, ४२, ४४, ४५, ४६, ४७, ४८, ४९, ५०, ५१, ५३, ५५, ६३, इत्यादि को, जो उक्त कथन के ज्वलन्त उदाहरण हैं, स्वतः देख और समझ सकते हैं।

दर्शन-शास्त्र के सिद्धान्तों को लौकिक व्यवहार के क्षेत्र में वहीं तक प्रयुक्त किया जा सकता है जहाँ तक उनमें उपयोगिता और उपयुक्तता का व्यापक तत्व सन्निहित है। यदि उनमें उपयोगिता नहीं तो साधारण प्राणियों के

माया है। यह साधारण दवा का काम नहीं देता, वरन् ऐसी दवा का काम देता है जिससे प्रेमी-हृदय शान्ति पाता है। (छन्द नं० १०१)

उद्धव इसी रसीले रसायन को, जो विरहाग्नि के ताप से हृदयान्तर की आहों में तपाया जाकर विधानपूर्वक ज्ञान-गन्धक आदि से तैयार किया गया है, लेकर मथुरा लौट जाते हैं। (छन्द नं० १०४)

विज्ञान के प्रकाश एवं प्रतिबिम्ब-सम्बन्धी सिद्धान्त को लेकर 'रत्नाकर' जी ने गोपियों के मुँह से कितनी सुन्दर भाव-व्यञ्जना का चित्रण कराया है। वस्तुतः यदि दर्पण के सम्मुख कोई व्यक्ति उसके निकट खड़ा होकर अपने प्रतिबिम्ब को देखे तो उसका प्रतिबिम्ब दर्पण के ऊपरी धरातल पर ही पड़ता हुआ दिखलाई पड़ता है किन्तु जैसे ही जैसे वह उससे दूर हटता हुआ अपने प्रतिबिम्ब को देखता है वैसे ही वैसे वह प्रतिबिम्ब दर्पण के भीतर

प्रविष्ट होता हुआ दिखलाई पड़ता है। इसी को कवि ने गोपियों के मन को दर्पण बना कर उस पर सुरंजित श्रीकृष्ण की मूर्ति को मन में और अधिक धँसती हुई दिखला कर घटित किया है। कितनी सुन्दर भावना है और कितनी सुन्दर कल्पना की व्यञ्जना है:—

"ज्यौं ज्यौं बसे जात दूरि दूरि प्रिय प्रान-मूरि,
त्यौं त्यौं धँसे जात मन-मुकुर हमारे में।"

मनोविज्ञान-सम्बन्धी सिद्धान्तों के विषय में पाठक ऊपर पढ़ ही चुके हैं। मनोविज्ञान-विषयक बातें भी इसमें बड़ी ही सुन्दरता के साथ व्यञ्जित की गई हैं। गोपियों की प्रेम-पूर्ण भावनाओं का बड़ा ही स्वाभाविक और मर्म-स्पर्शी चित्रण किया गया है। प्रेमोद्वेग से मन और शरीर की जो जो दशाएँ होती हैं वे स्थान स्थान पर बड़ी स्वाभाविकता, स्पष्टता और चित्रोपमता के

साथ मर्मस्पर्शिनी एवं सजीव भाषा में व्यक्त की गई है। विस्तार-भय से इन छन्दों की संख्याएँ ही देकर पाठकों से उनके अवलोकन एवं मनन करने का अनुरोध करते हैं।

छन्द नं० २, ३, ४, ७, १२, २०, २१, २४, २२, २६, ३०, ३८, ६०, ६१, ६४, ६२, ६८, १००, १०२, १०३, १०६, १०८, १०९, १११, ११४, ९३।

प्रथम तो हृदय में भावों का उठना ही कठिन होता है और यदि भाव उठे भी तो उनका शब्दों के द्वारा उपयुक्त भाषा में स्वाभाविकता तथा सरसता के साथ व्यक्त करना और उस पर भी काव्य-कला-कौशल से उन्हें अलंकृत करना और भी कठिनतर कार्य होता है। यदि यह भी हो गया तो कल्पना से प्रसंगानुकूल यथोचित भावनाओं का मार्मिक व्यञ्जना के साथ सजीव भाषा में साकार खड़ा करना तो कठिनतम ही कार्य होता

ऐसी सशक्त और भावपूर्ण भाषा में रक्खा है कि वे बिना हृदय पर अपना प्रभाव डाले रह ही नहीं सकते। यही तर्क की सहृदय शक्ति है।

योग-सम्बन्धी प्राणायाम, समाधि, ध्यान-धारणा आदि की ओर उद्धव के द्वारा संकेत कराते हुए कवि ने अपने योग-विषयक ज्ञान का भी परिचय दिया है, और साथ ही गोपियों के द्वारा इन सबका जैसा अवलोकनीय या पठनीय उपहासात्मक चित्रण कराया है पाठक इसे छन्द नं० ३८, ३६, ४०, ४२, ४७, ५१, ५६, ५७ आदि में स्वयं देख सकते हैं। उनका हृदय उछल कर बार बार यही कहेगाः—"धन्य हैं 'रत्नाकर' धन्य हैं"।

उद्धव-शतक की भाषा

आज हिन्दी-संसार का कोई भी ऐसा व्यक्ति नहीं है जिसे यह न ज्ञात हो कि महाकवि 'रत्नाकर' व्रज-भाषा के परम-प्रेमी और मर्मज्ञ हैं। उन्होंने

आज तक केवल ब्रज-भाषा में ही रचना की है। ब्रज-भाषा के लिए वे बहुत समय तक ब्रज में रहे और ब्रज-भाषा के साहित्य का उन्होंने आलोचनात्मक अध्ययन भी किया। आज ब्रज-भाषा और उसके साहित्य में यदि पूर्ण-पटुता किसी को प्राप्त है तो वह 'रत्नाकर' जी को ही कही जा सकती है। अस्तु, इस काव्य की भाषा भी शुद्ध ब्रज-भाषा ही है। ब्रजभाषा को साहित्योचित एकरूपता देने का जो कार्य आचार्य केशव के द्वारा उठाया गया था तथा महाकवि बिहारीलाल के द्वारा आगे बढ़ाया जाकर कविवर 'घनानंदादि के द्वारा प्रौढ़ किया गया था वही अब 'रत्नाकर' जी के द्वारा पूर्ण किया गया है, अर्थात् 'रत्नाकर' जी ने हिन्दी-साहित्य के क्षेत्र में पूर्ण प्रधानता प्राप्त करनेवाली सर्वमान्य ब्रज-भाषा को वह निश्चित एकरूपता दी है जो साहित्यिकभाषा के लिए अनिवार्य ही ठहरती है और जिसके ही आधार पर स्थायी साहित्य की रचना की जा सकती है।

यद्यपि ब्रज-भाषा के अनेक कवि हुए हैं तथापि प्रायः किसी ने भी क्रियाओं और कारकों आदि के रूपों को निश्चित विधान से स्थिरता देने की ओर ध्यान नहीं दिया। इसी लिए एक ही काल की क्रिया के कतिपय रूप पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ पाठक देना क्रिया के सामान्य भूतकालवाले रूप (दीन, दियो, दीन्हो आदि) देख सकते हैं। यद्यपि इस बहुरूपता में भी कुछ उपयोगिता एवं लाभ की मात्रा है तथापि साहित्योचित भाषा की मर्यादा के लिए इसमें कुछ हानि भी है। इसी प्रकार कारकों के रूपों में भी बहुरूपता पाई जाती है जो साहित्यिक भाषा के लिए उपयुक्त नहीं ठह-रती। इस प्रकार की बातों के साथ ही साथ लिङ्ग-रचना-सम्बन्धी रूपों और विधानों में भी अनेकरूपता का आभास पाया जाता है। शब्दों के शुद्ध उच्चारण (हिज्जे या spelling) और उनके लिखने में भी रूपान्तर देखे

जाते हैं। इन्हें एक निश्चित व्यवस्थात्मक रीति से निश्चित रूप से स्थिर करने का कार्य किसी ने भी पूर्ण रूप से न किया था। हाँ बिहारीलाल और घनानन्द ने इस ओर कुछ स्तुत्य प्रयत्न किया है, किन्तु इसकी पूर्ति वे भी न कर सके। महाकवि 'रत्नाकर' ने इस वर्तमान समय में, जब खड़ी बोली के राज्य में ब्रज-भाषा की मधुर और सुरीली पदावली शुद्ध एवं पूर्णरूप से सुनाई भी नहीं पड़ती, यह सराहनीय एवं गौरवपूर्ण सफलता के साथ किया है। कहने का तात्पर्य यह है कि 'रत्नाकर' जी के इस काव्य में ब्रज-भाषा का वह शुद्ध रूप मिलता है जिसमें साहित्योचित एकरूपता है।

"कविहिं अरथ-आखर-बल साँचा" के अनुसार कवि के लिए भाषा ही एक सच्चा और स्वाभाविक बल है। कहा जाता है कि काव्य में भाव की ही प्रधानता होनी चाहिए और उसी को ही प्राधान्य दिया जा सकता है।

ठीक है किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो भाव की अपेक्षा भाषा ही अधिक प्रभावकता रखती है। मान लिया कि भाव बहुत उत्तम है किन्तु यदि उसको व्यक्त करनेवाली भाषा सबल और सजीव नहीं है तो वह उत्तम भाव कवि के हृदय में ही रह जायगा और श्रोताओं तथा पाठकों के लिए अव्यक्त होकर रह जायगा। यह भी सम्भव है कि उस भाव के स्थान पर पाठक या श्रोता कोई दूसरा भाव, जो कवि की शब्दावली से साधारणतया झलकता है, निकाल बैठे। इसी लिए हम समझते हैं कि हमें भाव की अपेक्षा उसको व्यक्त करनेवाली भाषा की ही महत्ता तथा प्रभावकता को अधिक मानना चाहिए। वस्तुतः भाव भाषा में ही रहता है। इसलिए यदि कवि भाषा-पटु अथवा मर्मज्ञ है और उसके उपयोग में उसे पूरी कुशलता प्राप्त है तो वह अपने साधारण भाव को भी अपनी सुन्दर भाषा के द्वारा ऐसे चमत्कृत रूप में रख सकेगा कि पाठक और श्रोता उससे मुग्ध ही हो जायँगे

यहाँ यह भी कह देना अप्रासंगिक नहीं है कि काव्य के लिए भाषा को एक विशेष प्रकार से रूपान्तरित करके रखा जाता है और इसमें सफलता प्राप्त करनेवाले कवि ही महाकवि कहलाते हैं। तनिक ध्यान देने से ही यह ज्ञात हो जाता है कि वास्तव में कवि और कविता के लिए एक दूसरे ही प्रकार की भाषा समायोजित होती है। साधारण गद्य की भाषा में कवि पूर्ण कुशलता और पूर्ण सफलता से सत्काव्य की रचना नहीं कर सकता। जो लोग काव्य-रचना के क्षेत्र में कार्य करते हैं और कवि-कर्म की ओर पूर्ण ध्यान देते हैं उन्हें तो इसका अनुभव अति शीघ्र और अवश्य ही हो जाता है। खड़ी बोली के काव्य को यदि आज पर्याप्त सफलता नहीं मिल रही तो उसका एक मुख्य कारण यह भी है कि उसका अभी काव्योचित रूप नहीं बन सका और खड़ी बोली के कवि अपने काव्य में उसका उसी रूप में प्रयोग करते हैं जो साधारणतया

बोल-चाल और गद्य के लिखने में व्यवहृत किया जाता है। हमारे प्राचीन कवियों ने इस पर पूर्ण विचार करके ब्रज भाषा को काव्योचित बनाने का पूर्ण प्रयत्न किया है और उसे ऐसा बना दिया है कि वह अपने गुणों से काव्य में बहुत बड़ी सुन्दरता तथा रमणीयता ला उपस्थित करती है। साधारण से साधारण रचना भी ब्रज-भाषा की कमनीय कोमलता, मनमोहिनी मधुरता और मञ्जुलता के प्रभाव से मनारञ्जक तथा चाह चोखी लगने लगती है। यदि इसमें अर्थ-गौरव, पद-लालित्य और चमत्कृत-चातुर्य का भी यथोचित समावेश कर दिया जाय तो वह 'सोना और सुगन्ध' की कहावत को भी चरितार्थ करने लगती है।

भाषा की कसौटी उसकी स्वाभाविक अर्थ-शक्ति ही है अर्थात् भाषा वही है जो मानसिक भावों एवं भावनाओं को स्वाभाविक यथार्थता

काव्य की भाषा में इस बात का सदा ध्यान रखना चाहिए कि वह सब प्रकार व्याकरणानुमोदित, नियम-नियन्त्रित, लौकिक-प्रयोगानुकूल, संयत और सुव्यवस्थित रहे। उसमें किसी प्रकार भी शिथिलता, अस्पष्टता और निरर्थकता न हो। उसकी पदावली कसी हुई, भाव-पूर्ण और विशेष रहे। ग्रामीण, अप्रयुक्त और व्यर्थ के अशुद्ध शब्द, जिनसे काव्य में अनीप्सित दुष्कलादि के दोष आ जाते हैं, सदैव त्याज्य होने चाहिए। इस प्रकार की भाषा के बिना उत्कृष्ट और अमूल्य काव्य की सृष्टि कदापि नहीं हो सकती।

कवि को अपनी पदावली में शब्दों का चयन तथा संगठन ऐसा ही करना चाहिए कि उससे कोई भी शब्द किसी भी प्रकार कहीं से भी, निकाला न जा सके और यदि निकाल दिया जाय तो उससे भाव और भाषा को पूरी क्षति पहुँचे। प्रत्येक शब्द जब तक अपनी अनिवार्यं सत्ता

इसकी भाषा में चित्रचित्रण-शक्ति भी अपने बहुत ही सुन्दर रूप में पाई जाती है, क्योंकि इसकी पदावली में अमूर्त पदों का भी सुचारु संगुम्फन किया गया है और व क्य-विन्यास भी इस प्रकार का रक्खा गया है कि उसमें वर्णित वस्तु को सामने चित्रित करके सजीव खड़ा करने की पूरी क्षमता आ गई है।

सर्वत्र भाषा में सजीवता और साकारता की लालिमा लिखती है। भावव्यञ्जना और मानसिक-अनुभूति के साथ ही साथ, कुशल-कल्पना भी निखरी और बिखरी हुई पाई जाती है। शब्द-संचयन इतना अच्छा हुआ है कि उसमें कहीं भी किसी प्रकार का शैथिल्यादि दोष नहीं मिलता। प्रत्येक शब्द, भावपूर्ण, सशक्त और चरितार्थ ही मिलता है। भावनाओं के प्रकट करने में जिन मार्मिक शब्दों की माला बनाई गई है, उन्हें देख कर यही कहना पड़ता है कि कवि ने मानव-प्रकृति और मानव-हृदय की मर्मज्ञता प्राप्त करके बड़ी

ही सरलता और श्रम के साथ एक सुष्ठु शब्द-संगठन किया है। ऐसे ही स्थलों में पूर्ण स्वाभाविकता, यथार्थता और सरलता मिलती है, जिससे प्रकाशित की हुई भावनाएँ सजीव और साकार होकर हृदय में पैठ और बैठ जाती हैं।

एक विशेषता यहाँ पर और यह अवलोकनीय है कि प्रत्येक शब्द अपने सहगामी अन्य शब्दों को पूरा साहाय्य और उत्कर्ष भी देता है। शब्द एक दूसरे से सर्वथा परिपुष्ट होकर भावादि का संवर्धन और संविकासन करते हुए चलते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि भाषा यहाँ भाव की पूरी सहगामिनी बन रही है और इससे यही प्रकट होता है कि भाषा भाव के अनुसार और भाव भाषा के अनुसार चल रहे हैं। संज्ञाओं और विशेषणों का प्रयोग बहुत ही उचित और मार्मिक हुआ है। भावों के अनुकूल ही संज्ञाएँ और उनके विशेषण रक्खे गये हैं, तथा वे पूर्णरूप से चरितार्थ भी किये गये हैं।

अब यदि काव्य-भाषा की शास्त्रीय कसौटी पर प्रस्तुत काव्य की भाषा को कसें तो शास्त्रीय पद्धति की आलोचना के रूप में कह सकते हैं कि इसमें भाषा के वे सभी गुण अथवा लक्षण विद्यमान हैं जिनका होना आचार्यों ने आवश्यक ठहराया है। प्रसाद और माधुर्य दोनों गुण समस्त काव्य में सर्वत्र पाये जाते हैं। इन्हीं के साथ ही साथ लालित्य की भी पूरी पुट सर्वत्र लगी हुई है। इन गुणों पर कान्ति नामी गुण का कान्तिमय सुन्दर रङ्ग भी चढ़ा दिया गया है। चूँकि यह शृङ्गार (विप्रलम्भ अथवा वियोग) रस का काव्य है, इसलिए इसके अनुकूल उपनागरिका एवं कोमला वृत्तियों तथा वैदर्भी और पाञ्चाली, नामी रीतियों को ही प्रधानता देते हुए रचना की गई है। स्थानाभाव से हम यहाँ इसकी विशेष विवेचना न करने के लिए बाध्य हैं।

कुछ लोग कवि के भाषा-पाण्डित्य का अनुमान इस बात से भी करते हैं कि उसने कितने नवीन और कैसे मार्मिक शब्दों का प्रयोग अपने काव्य में किया है। इसके आधार पर भी यदि हम इस काव्य को जाँचते हैं तो ज्ञात होता है कि कवि ने इसमें भी अच्छी सफलता पाई है। बहुत से ऐसे शब्द हैं जो भावानुभूति-व्यञ्जक और मुक्तक-परम्परा के लिए नितान्त मौलिक हैं। उदाहरणार्थ ऐसे शब्द लिये जा सकते हैं।

बहियाँ, अड़ह, गहबर, सकस्योई, भकुवाने, इत्यादि।

कहीं कहीं पर शब्द-युग्मक (एक साथ युग्म बना कर चलनेवाले शब्द) को तोड़ कर रूपान्तर के साथ भी रक्खा गया है। यथाः—

"हा! हा! इन्हें रोकन की टोंक न लगावो"

नोटः—साहित्यिक ब्रज-भाषा के विकासादि का विशेष विवरण देखिए हमारे "ब्रजभाषा-पीयूष" नामक ग्रन्थ में।

है। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो यही ज्ञात होता है कि यह केवल वर्णिक वृत्त ही नहीं है वरन् मात्राओं तथा गुरु-लघु-मूलक गणों के प्रभाव से भी प्रभावित रहता है। इस छन्द की रचना भी भिन्न भिन्न कवियों ने भिन्न भिन्न रूपों में की है।

जहाँ तक हम समझते हैं कवित्त मुख्यतः दो भिन्न प्रकार की गतियों के आधार पर रचा जाता है। एक गति तो ऐसी होती है कि वह अविराम रूप से शब्दों को एक सुसंगठित शृङ्खला में रखकर एक लम्बी और अबाध लय से चलती है। इस गति के अनुसार कवित्त की रचना प्राचीन कवियों ने बहुत की है। कवित्त की दूसरी गति वह है जिसमें कवित्त की लय कुछ निश्चित अवकाश पर स्वल्प विश्राम के साथ अग्रसर होती है। ऐसा ही कवित्त सर्वथा शुद्ध माना जाना चाहिए जो दोनों गतियों में सुन्दरता और रोचकता के साथ

तथा शान्तरस का प्राधान्य है, भक्ति और प्रेम की, जिन्हें श्रृंगार के ही अंग मानते हैं, महत्ता और सत्ता स्थापित की गई है।

कृष्ण और गोपिकाएँ आलम्बन के रूप में और गोकुल, जो प्रेम-लीलाओं का मुख्य स्थान है और जहाँ की वायु तथा भूमि आदि प्राकृतिक पदार्थों पर भी कृष्णानुराग का रंग चढ़ा हुआ है और उद्धव के द्वारा लाई गई प्रेम-पत्रिका उद्दीपन के रूप में लिये जा सकते हैं। प्रेम और भक्ति से परिप्लावित कृष्ण, गोपियों और आगे चल कर भक्ति और प्रेम-रस से सिञ्चित उद्धव में पुलकावली, अश्रु-प्रवाह, उच्छ्वास, कंठावरोध, प्रस्वेद, वैवर्ण्य, कम्प, शैथिल्य, मोह-प्रसार आदि अनेक अनुभाव यथोचित रूप से यथास्थान प्रदर्शित किये गये हैं। पूर्व-स्मृति की धारा तो कहीं कहीं पर अोझल सी होती हुई और कहीं कहीं पर पूर्णरूप से प्रकट होकर प्रवाहित होती हुई ज्ञात होती है।

कहीं कहीं तो अनेक अनुभावों का गुम्फ-संगुम्फन बड़ी ही चातुरी और रसि-कता से किया गया है (देखो छन्द नं० २८ १०२, १०३, १०६, १०८, २४ इत्यादि)।

दीन दसा देखि ब्रजबालनि की ऊधव कौ,
गरिगौ गुमान-ज्ञान-गौरव गुठाने से ।
कहै 'रतनाकर' न आये मुख बैन, नैन,
नीर भरि ल्याए, भए सकुचि सिहाने से ॥
सूखे से, स्रमे से, सकबके से, सके से, थके,
भूले से, भ्रमे से, भभरे से, भकुआने से ।
हौले से, हले से, हूल हूले से, हिये मैं हाय !
हारे से, हरे से, रहे हेरत, हिराने से ॥

यह एक स्वाभाविक बात है कि जिस समय कोई त्योहार आता है उस समय सबको, विशेषतया स्त्रियों को, अपने अपने प्रिय जनों का, प्रेम के कारण, बार बार ध्यान या स्मरण आता है। प्रेमिकाएँ तो अपने प्रेमियों के

बिना त्यौहार मनाती ही नहीं और यदि मनाती भी हैं तो रो-रोकर दुःख के साथ ही। इसी का कैसा सुन्दर वर्णन छन्द नं० ८४, ८६, में किया गया है।

आवति दिवारी बिलखाइ ब्रजवारी कहैं,
अब कैं हमारैं गाँव गोधन पुजैहै को।
कहै 'रतनाकर' विविध पकवान चाहि,
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहै को॥
निपट निहोरि, जोरि हाथ निज साथ ऊधौ !,
दमकत दिव्य दीपमालिका दिखैहै को।
कूबरी के कूबर सौं ऊबर न पावैं कान्ह,
इन्द्र-कोप-लोपक गुबर्धन उठैहै को॥

शृङ्गारात्मक मुक्तक काव्य में षट्ऋतु-वर्णन-सम्बन्धी रचना-शैली का प्रचार पहले बहुत रहा है और बहुत से प्राचीन कवियों ने षट्ऋतु लिखा

भी है। 'श्री रत्नाकरजी' ने भी इस काव्य में षट्ऋतु के वर्णनवाले छः छन्द दिये हैं। वास्तव में यह षट्ऋतु-वर्णन अपने ढंग का अद्वितीय ही है। छः ऋतुओं के लिए केवल छः छन्द ही लिखे गये हैं, अर्थात् प्रत्येक ऋतु के लिए एक ही छन्द है। विशेषता यहाँ यह है कि प्रत्येक ऋतु में प्रकृति की समस्त सुखद बातों तथा दशाओं को वियोग-विदग्ध मन पर ही घटित किया गया है। एक ओर तो प्रकृति-चित्रण है और दूसरी ओर वियोग-व्यञ्जना से दग्ध मन का निरूपण है। समस्त-पदावली इसी लिए क्लिष्ट रक्खी गई है। कहीं कहीं शब्द-युग्मक (मुहावरे के अनुसार साथ चलनेवाले दो शब्द) भी विलष्ट रूप में रखकर सार्थक किये गये हैं। यथाः—

"काम-विधि वाम की कला में मीन-मेष कहा...............

छन्द नं० ८७

भक्त कवियों ने ब्रज को अपने आराध्य या इष्टदेव का लीला-धाम समझ कर उसकी भी बड़ी ही मार्मिक प्रशंसा या स्तुति की है। यह एक साधारण सी बात है कि भक्त और प्रेमी को अपने आराध्य देव तथा प्रेम-पात्र की सभी वस्तुएँ उतनी ही अच्छी लगती हैं और उनमें भी उसका उतना ही अनुराग होता है जितना इष्टदेव या प्रेम-पात्र में। 'रत्नाकर' जी ने भी इसी के अनुसार ब्रज और बरसाने आदि की व्यञ्जनामयी मार्मिक महत्ता दिखलाई है। उद्धव ब्रज की बड़ाई करते हुए कहते हैं:—

"छावते कुटीर कहूँ रम्य जमुना के तीर,
गौन रौन रेती सौं कदापि करते नहीं।
कहै 'रत्नाकर' बिहाय प्रेम-गाथा गूढ़,
स्रौन-रसना में रस और भरते नहीं॥
गोपी-ग्वाल-बालनि के उमड़त आँसू देखि,
लेखि प्रलयागम हू नैकु डरते नहीं।

धाईं जित-तित तें बिदाई-हेत ऊधव की,
गोपीं भरीं आरति सँभारतिं न साँसुरी।
कहै 'रतनाकर' मयूर-पच्छ कोऊ लिये,
कोऊ गुंज-अंजुली उमाहे प्रेम-आँसुरी।
भाव-भरी कोऊ लिये रुचिर सजाव-दही,
कोऊ मही मंजु दाबि दलकति पाँसुरी।
पीत पट नंद, जसुमति नवनीत नयौ,
कीरति-कुमारी सुरवारी दई बाँसुरी॥

जहाँ गोपियाँ कृष्ण के लिए उद्धव से अपने संदेश कहती हैं वहाँ जो छन्द लिखे गये हैं वे वस्तुतः साहित्य में बेजोड़ ही से हैं।

कितना अच्छा अभिनय-प्रधान सन्देश और दशा-निवेदन का कैसा चारु चित्रण मानसिक और शारीरिक अवस्थाओं की पूर्ण सूचना देनेवाली व्यञ्जना

भाषा के जितने भी उच्च-कोटि के सिद्धहस्त कवि हैं, उनमें यह बात शायद ही कहीं पाई जाती हो। अनुप्रासादि इनके काव्य में सर्वथा स्वाभाविकता और सुन्दरता के साथ आते हुए इनकी भाषा को चमत्कृत ही बनाते हैं। इनके कारण इनकी भाषा में किसी प्रकार भी कृत्रिमता नहीं आने पाती, वरन् ऐसा जान पड़ता है कि इनकी यह सानुप्रासिक भाषा इनके हृदय से उसी प्रकार सजी-सजाई स्वभावतः तथा स्वतः निकलती है। ये अनुप्रासों के लिए दीन होकर कोष के द्वार पर शब्द-रत्न नहीं माँगते फिरते। भाषा पर इनका इतना अच्छा अधिकार हो जाता है कि बस इनके:—

"तान् वाग्देवानुवर्तते" वाणी इनके वश में होकर पीछे पीछे चलती है और इनकी इच्छा तथा कल्पना से उत्पन्न होनेवाले भावों को परिपुष्ट और उत्कृष्ट करती हुई व्यक्त करती है। भाषा इनके लिए होती है

की नहीं है, यह तो रस और भाव-प्रधान काव्य है, इसी लिए इसमें छेक, वृत्ति, लाट, यमक, वीप्सा आदि शब्दालङ्कार बड़े ही स्वाभाविक तथा भाव-परिपोषक होकर सार्थक रूप से उपयुक्त स्थानों पर ही आये हैं। इन अलङ्कारों से अलङ्कृत शब्द या पद इतने आवश्यक, अनिवार्य्य और उपयुक्त भावपूर्ण हैं कि उनको किसी भी प्रकार निकाला नहीं जा सकता अथवा उनके स्थान पर दूसरे शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता, क्योंकि ऐसा करने से भाषा और भाव दोनों ही को गहरी क्षति पहुँच सकती है। चूँकि इसी विचार से शब्दालङ्कारों का उपयोग यहाँ हुआ है इसी लिए उनका प्रयोग-प्राचुर्य्य और अनावश्यक संयोजन नहीं होने पाया। फिर भी उक्त शब्दालङ्कारों का सदुपयोग इस काव्य में बहुत ही सराहनीय रूप से किया गया है। ऐसे स्थान भी हैं जहाँ अनुप्रासादि का प्राचुर्य भी पाया जाता है किन्तु वहाँ भी स्वाभाविकता, सार्थकता और उपयुक्तता नहीं जाने पाई।

इनमें से दो स्थानों में तो हम कह सकते हैं कि वीप्सा एक विचित्र ढंग से रक्खी गई है क्योंकि यहाँ एक ही वाक्य की आवृत्ति यह दिखलाने के लिए की गई है कि भिन्न भिन्न व्यक्ति उसी वाक्य का प्रयोग कर रहे हैं न कि एक ही व्यक्ति, जैसा प्रायः वीप्सा में देखा जाता है। यह अवश्य है कि इससे सुननेवाले पर वैसा ही प्रभाव पड़ता है जैसा एक व्यक्ति के द्वारा वीप्सायें में की गई आवृत्ति का पड़ा करता है। शब्द-गत वीप्सा के तो अनेकों उदाहरण यहाँ पाये जाते हैं। इसी प्रकार पुनरुक्तिप्रकाश भी कई स्थलों पर अपने अच्छे रूप में मिलता है।

श्लेष के लिए, जैसा हम पहले लिख चुके हैं, हमारे रसज्ञ पाठक यहाँ पट्ऋतुवर्णन के छः कवित्त देख सकते हैं। इन सबमें श्लेष का ही पूर्ण प्राधान्य है। इनके अतिरिक्त और भी ऐसे कई कवित्त हैं जिनमें श्लेष से भाव-व्यञ्जना का बहुत बड़ा काम लिया गया है और इसी लिए वे कवित्त चमक उठे हैं।

छन्द नं० ५९ में अनंग शब्द को श्लिष्टरूप में लेकर अंग-रहित अर्थात् ब्रह्म और मदन दोनों पर चरितार्थ करते हुए गोपियों के द्वारा ब्रह्मोपदिष्ट अंगहीन ब्रह्म की आराधना का कैसा मंजुल, भाव-व्यंजक तथा उपहास-मूलक कथन कराया गया है। गोपियाँ कहती हैं:—

"एक ही अनङ्ग साधि साधि सब पूरी अब,
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा"।

यही ही सुन्दर उक्ति है और बड़ा ही सुन्दर तथा प्रभावशाली कथन-चातुर्य है।

कहीं कहीं तो 'रत्नाकर' जी ने अपने नाम को भी श्लिष्टरूप में रक्खा है और ऐसा करते हुए भाव को भी उत्कृष्ट कर दिया है, देखो छन्द नं० १८, ३८, ४२,११।

इसी प्रकार पाठक और भी देख सकते हैं। हमारा तो यही विचार है कि 'रत्नाकर' जी को शब्दालङ्कारों के उपयोग में अप्रतिम सफलता मिली है।

अर्थालङ्कारों के उपयोग में तो 'रत्नाकर' जी ने बड़े बड़े कमाल किये हैं, उपमा, रूपक आदि अलङ्कारों का तो कहना ही क्या है, उन साधारण अलङ्कारों में भी नयी जान डाल दी है और उनका ऐसे स्वाभाविक, सार्थक तथा समीचीन रूप में प्रयोग किया है जैसा कदाचित् और किसी भी कवि ने नहीं किया।

लोकोक्ति अलङ्कार का प्रयोग प्रायः बहुत ही कम कवियों ने किया है और जिन्होंने किया भी है उन्होंने बहुत ही साधारण रूप में किया है। 'रत्नाकर' जी ने लोकोक्ति का उपयोग बड़ी ही चतुरता से करते हुए अपने कवित्त को तो उत्कृष्ट बनाया ही है कहीं कहीं लोकोक्तियों को भी उत्कृष्ट कर दिया है। छन्द नं० ९६ की "दिपत दिवाकर कौ दीपक दिखावै कहा" इस लोकोक्ति को इस

'परिष्कृता संकेतित' कह सकते हैं, क्योंकि इसका साधारण रूप है 'सूर' को 'दीपक दिखाना' इसी को परिष्कृत करके यहाँ रक्खा गया है। (देखो अलङ्कार-पीयूष उत्तरार्द्ध पृष्ठ १०) इसी प्रकार पृं० सं० ७८ में देखिए।

लोकोक्तियों के अतिरिक्त 'रत्नाकर' जी ने मुहावरों का भी ऐसा सुन्दर प्रयोग किया है जैसा कदाचित् अन्य किसी भी कवि ने नहीं कर पाया। पाठक स्वतः देख सकते हैं।

जैसा हम शब्दालङ्कारों के विषय में कह चुके हैं वैसा ही यहाँ अर्थालङ्कारों के सम्बन्ध में भी कहा जा सकता है, अर्थात् किसी विशेष लक्ष्य से किसी विशेष अर्थालङ्कार का ही प्रयोग नहीं किया गया, वरन्, प्रायः सङ्कर और संसृष्टि के ही रूप में एक एक छन्द में कई अर्थालङ्कार यहाँ दिखाई पड़ते हैं।

रूपक, विरोधाभास, उपमा, आदि अलङ्कारों का प्राधान्य अवश्य पाया
जाता है, क्योंकि यहां ऐसे अलङ्कार हैं जिनसे भाव को उत्कर्ष और रस को
सम्पन्नता मिलती है। समूचे अथवा विशेषतम अलङ्कारों को विशेष रूप से किया
गया है, क्योंकि इनसे काव्य में और ही शोभा आजाती है। इसी तरह
ऋतु-वर्णन में भी कई अलङ्कार बड़ी चातुरी से लाये गये हैं और इसी
लिए प्रत्येक कवित्त की सुन्दरता बढ़ गई है। उदाहरणार्थ लीजिए छन्द नं०
८६, इसमें सांगरूपक, श्लेष और विरोधाभास तीनों का सुन्दर सामञ्जस्य
है। साथ ही सुन्दर भाव-व्यञ्जना की भी मार्मिक पुट है। इसी प्रकार अन्य
कवित्तों में भी हमारे सुयोग्य पाठक अलङ्कारों की आभा देख सकते हैं।

वर्ण मैत्री एवं शब्द-मैत्री—यहीं पर हम संक्षेप से रचना-सम्बन्धी उन
दो गुणों का भी दिग्दर्शन करा देना आवश्यक समझते हैं जिनका होना साहित्य के

लिए अनिवार्य हैं। ये दोनों गुण जब तक कविता में नहीं आते तब तक उसमें यथोचित सुन्दरता भी नहीं आती। आज-कल देखा जाता है कि कवि लोग इनकी ओर ध्यान ही नहीं दिया करते, जिसका फल यह होता है कि उनका काव्य प्राय शिथिल, श्रुतिकटु और शब्द-साम्य-रहित हो जाता है। सत्काव्य-रचना के लिए वर्ण-मैत्री और शब्द-मैत्री दोनों ही की बहुत आवश्यकता है। कह सकते हैं कि ये दोनों शब्दों और वर्णों को तौलने और उनमें समानता दिखलानेवाले तराजू के पल्ले हैं। इन्हीं पर रखकर कवि शब्दों और वर्णों को तौलता और उनका परिमाण देखकर उन्हें चुनता है। यह तो स्पष्ट ही है कि समान मात्रा और परिमाणवाले वर्णों और शब्दों के सुव्यवस्थित संगुम्फन से ही, पदावली रुचिर और रोचक होती है। यदि एक शब्द या वर्ण भारी हो और उसके समीपवर्ती दूसरे शब्द या वर्ण हलके हों तो इस

प्रकार जो पदावली बनेगी वह निश्चय ही लटकनेवाली और अरुचिकर होगी।

आवृत्ति-मूलक शब्दालङ्कार अन्य दोनों गुणों के सहायक या उपकरण में लिये जा सकते हैं। इनके कारण इन दोनों गुणों को उत्कर्ष प्राप्त होता है। कवि-चातुर्य यही है कि इन दोनों गुणों का सुन्दर सामञ्जस्य काव्य में हो।

यदि हम प्रस्तुत काव्य को इस विचार से देखें तो ज्ञात होगा कि इसमें इन दोनों गुणों से बने हुए रचना-तुला पर तौल तौल कर शब्द रक्खे गये हैं। शब्दमैत्री और वर्ण-मैत्री के लिए यह आवश्यक है कि समान कोटि के शब्द और वर्ण एक ही साथ बिठाये जावें। ऐसा करने से ही पदावली में समता आ सकती है और समता ही उसकी रुचिरता का मुख्य कारण है। यहाँ कोई भी कवित्त ऐसा नहीं मिलता जिसमें

यह बात न पाई जाती हो। उदाहरणार्थ पाठकों का ध्यान हम निम्नलिखित पदों या कड़ियों की ओर आकर्षित करते हैं, क्योंकि यहाँ हम, दोनों गुण इतने स्पष्ट रूप में दिखाते हैं कि पाठक स्वयं मुक्तक की पहचान सकते हैं:—

पृष्ठ	३०	२८	पंक्ति	तीसरी	और चौथी
"	"	१५	"	प्रथम	
					इत्यादि

कवि-उपनाम

मुक्तक काव्य में हिन्दी के प्रायः सभी कवियों ने अपने नामोपनाम अवश्य रक्खे हैं। संस्कृत के महाकाव्य में यह एक नियम सा रक्खा गया है कि अन्त में कवि अपना सूक्ष्म परिचय अवश्य दे दे। यही बात नाटकों के लिए भी रक्खी गई है। किन्तु मुक्तक काव्य के लिए संस्कृत में न तो कोई ऐसा नियम ही रक्खा गया है और न संस्कृत के मुक्तक-काव्यकारों ने कोई परिपाटी

उद्धव
शतक
उद्धव-शतक

उद्धव
शतक

उद्धव शतक

॥ श्री ॥

श्रीगणेशाय नमः

मंगलाचरण

जासों जाति विषय-विषाद की बिवाई बेगि
चोप-चिकनाई चित चारु गहिबौ करै ।
कहै रतनाकर कबित्त-बर-व्यंजन मैं
जासों स्वाद सौगुनौ रुचिर रहिबौ करै ॥
जासों जोति जागति अनूप मन-मंदिर मैं
जड़ता - बिषम - तम - तोम दहिबौ करै ।
जयति जसोमति कैं लाड़िले गुपाल, जन
सारदा कृपा सौं सो सनेह लहिबौ करै ॥

न्हात जमुना मैं जलजात एक देख्यौ जात
जाकौ अध-ऊरध अधिक मुरझायौ है।
कहै रतनाकर उमहि गहि स्याम ताहि
बास-बासना सौं नैंकु नासिका लगायौ है॥
त्यौंहीं कछु घूमि झूमि बेसुध भए कै हाय
पाय परे उखरि अभाय मुख छायौ है।
पाए घरी द्वैक मैं जगाइ ल्याइ ऊधौ तीर
राधा-नाम कीर जब औचक सुनायौ है॥

देखि दूरि ही तैं दौरि पौरि लगि भेंटि ल्याइ
आसन दै साँसनि समेटि सकुचानि तैं ।
कहै रतनाकर यौं गुनन गुबिंद लागे
जौलौं कछू भूले से भ्रमे से अकुलानि तैं ॥
कहा कहैं ऊधौ सौं कहैं हूँ तो कहाँ लौं कहैं
कैसें कहैं कहैं पुनि कौन सी उठानि तैं ।
तौलौं अधिकाई तैं उमगि कंठ आइ भिंचि
नीर ह्वै बहन लागी बात अँखियानि तैं ॥

आए भुज-बंध दिए ऊधव-सखा कैं कंध
डग-मग पाय मग धरत धराए हैं।
कहै रतनाकर न बूझैं कछु बोलत औ
खोलत न नैन हूँ अचैन चित छाए हैं॥
पाइ बहे कंज मैं सुगंध राधिका को मंजु
ध्याए कदली-बन मतंग लौं मताए हैं।
कान्ह गए जमुना नहान पै नए सिर सौं
नीकैं तहाँ नेह की नदी मैं न्हाइ आए हैं॥

विरह-विथा की कथा अकथ अथाह महा

कहत बनै न जो प्रवीन सुकवीनि सौं।

कहै रतनाकर बुझावन लगे ज्यौं कान्ह

ऊधौ कौं कहन-हेत ब्रज-जुवतीनि सौं ॥

गहबरि आयौ गरौ भभरि अचानक त्यौं

प्रेम पर्‌यौ चपल चुचाइ पुतरीनि सौं।

नैंकु कही बैननि, अनेक कही नैननि सौं,

रही-सही सोऊ कहि दीनी हिचकीनि सौं ॥

नंद औ जसोमति के प्रेम-पगे पालन की
लाड़-भरे लालन की लालच लगावती
कहै रतनाकर सुधाकर-प्रभा सौं मढ़ी
मंजु मृगनैनिनि के गुन-गन गावती ॥
जमुना-कछारनि की रंग-रस-रारनि की
बिपिन-बिहारनि की हौंस हुमसावती ।
सुधि ब्रज-बासिनि दिवैया सुख-रासिनि की
ऊधौ नित हमकौं बुलावन कौं आवती ॥

चलत न चार्यौ भाँति कोटिनि विचार्यौ तऊ
दाबि दाबि हार्यौ पै न टार्यौ टसकत है।
परम गहीली वसुदेव-देवकी की मिली
चाह-चिमटी हूँ सौं न खैंचौ खसकत है॥
कढ़त न क्यौं हूँ हाय विथके उपाय सबै
धीर-आक-छीर हूँ न धारैं धसकत है।
ऊधौ ब्रज-बास के विलासनि कौ ध्यान धँस्यौ
निसि-दिन काँटे लौं करेजैं कसकत है॥

रूप-रस पीवत अघात ना हुते जो तब
सोई अब आँस ह्वै उबरि गिरिबौ करैं।
कहै रतनाकर जुड़ात हुते देखैं जिन्हैं
याद किएँ तिनकौं अँवाँ सौ घिरिबौ करैं॥
दिननि कै फेर सौं भयौ है हेर-फेर ऐसौ
जाकौं हेरि फेरि हेरिबौई हिरिबौ करैं।
फिरत हुते जू जिन कुंजनि मैं आठौं जाम
नैननि मैं अब सोई कुंज फिरिबौ करैं॥

कहत गुपाल माल मंजु मनि-पुंजनि की
गुंजनि की माल की मिसाल छवि छावै ना।
कहै रतनाकर रतन-मै किरीट अच्छ
मोर-पच्छ-अच्छ-लच्छ-अंसहू सु-भावै ना॥
जसुमति मैया की मलैया अरु माखन कौ,
काम-धेनु-गोरस हू गूढ़ गुन पावै ना।
गोकुल की रज के कनूका औ तिनूका सम
संपति त्रिलोक की बिलोकन मैं आवै ना॥

राधा-मुख-मंजुल-सुधाकर के ध्यान ही सौं
प्रेम-रतनाकर हियैं यौं उमगत है।
त्यौंही बिरहातप प्रचंड सौं उमंडि अति
ऊरध उसास को झकोर यौं जगत है॥
केवट बिचार को बिचारौ पचि हारि जात
होत गुन-पाल ततकाल नभ-गत है।
करत गँभीर धीर-लंगर न काज कछू
मन कौ जहाज डगि डूबन लगत है॥

११

सील-सनी सुरुचि सु-बात चलैं पूरब की
औरै ओप उमगी दृगनि मिदुराने तें ।
कहै रतनाकर अचानक चमक उठी
उर घनस्याम कैं अधीर अकुलाने तें ॥
आसाछन्न दुरदिन दीस्यौ सुरपुर माहिं
ब्रज मैं सुदिन बारि-बूंद हरियाने तें ।
नीर कौ प्रवाह कान्ह-नैननि कैं तीर बह्यौ
धीर बह्यौ ऊधौ-उर-अचल रसाने तें ॥

प्रेम-भरी कातरता कान्ह की प्रगट होत
ऊधव अवाक रहे ज्ञान-ध्यान सरकै।
कहै रतनाकर धरा कौं धीर धूरि भयौ
भूरि-भीति-भारनि फनिंद-फन करकै॥
सुर सुर-राज सुद्ध-स्वारथ-सुभाव-सने
संसय समाए धाए धाम बिधि हर कै।
आई फिरि ओप ताप-दाप ब्रज-गोपनि कै
निरहिनि बामनि कै बाम अंग फरकै॥

११

हेत-खेत माहिँ खोदि खाईँ सुद्ध स्वारथ की
प्रेम-तृन गोपि राख्यौ तापै गमनौ नहीँ ।
करिनी प्रतीति-काज करनी बनावट की
राखी ताहि हेरि हियैँ हौंसनि सनौ नहीँ ॥
घात मैँ लगे हैँ ये बिसासी ब्रजबासी सबै
इनके अनोखे छल-छंदनि छनौ नहीँ ।
बारनि कितेक तुम्हैँ बारन कितेक करैँ
बारन-उबारन ह्वै बारन बनौ नहीँ ॥

पाँचौ तत्त्व माहिं एक सत्त्व ही की सत्ता सत्य
याही तत्त्व-ज्ञान कौ महत्त्व श्रुति गायौ है।
तुम तौ विवेक रतनाकर कहौ क्यों पुनि
भेद पंचभौतिक के रूप मैं रचायौ है॥
गोपिनि मैं, आप मैं, वियोग औ संजोग हूँ मैं
एक भाव चाहिए सचोप ठहरायौ है।
आप ही सौं आपकौ मिलाप औ बिछोह कहा
मोह यह मिथ्या सुख-दुख सब ठायौ है॥

दिपत दिवाकर कौं दीपक दिखावै कहा
तुमसन ज्ञान कहा जानि कहिबौ करैं ॥
कहै रतनाकर पै लौकिक-लगाव मानि
परम अलौकिक की थाह थहिबौ करैं ॥
असत असार या पसार मैं हमारी जान
जन भरमाए सदा ऐसैं रहिबौ करैं ।
जागत औ पागत अनेक परपंचनि मैं
जैसैं सपने मैं अपने कौं लहिबौ करैं ॥

हा ! हा ! इन्हैं रोकन कौं टोक न लगावौ तुम
विसद-बिवेक-ज्ञान-गौरव-दुलारे हैं ।
प्रेम-रतनाकर कहत इमि ऊधव सौं
थहरि करेजौ थामि परम दुखारे हैं ॥
सीतल करत नैंकु हीतल हमारौ परि
विषम-वियोग-ताप-समन पुचारे हैं ।
गोपिनि के नैन-नीर ध्यान-नलिका ह्वै धाइ
दृगनि हमारैं आइ छूटत फुहारे हैं ॥

प्रेम-नेम निफल निवारि उर-अंतर तैं
ब्रह्म-ज्ञान आनँद-निधान भरि लैहैं हम।
कहै रतनाकर सुधाकर-मुखीनि-ध्यान
आँसुनि सौं धोइ जोति जोइ जरि लैहैं हम॥
आवो एक बार धारि गोकुल-गली की धूरि
तब इहिं नीति की प्रतीति धरि लैहैं हम।
मन सौं, करेजे सौं, स्रवन-सिर-आँखिनि सौं
ऊधव तिहारी सीख भीख करि लैहैं हम॥

बात चलैं जिनकी उड़ात धीर धूरि भयौ
ऊधौ मंत्र फूंकन चले हैं तिन्हैं ग्यानी है।
कहै रतनाकर गुपाल के हिये मैं उठी
हूक मूक भायनि की अकथ कहानी है॥
गहबर कंठ है न कढ़न सँदेस पायौ
नैन-मग तौलौं आनि बैन अगवानी है।
प्राकृत प्रभाव सौं पलटि मनमानी पाइ
पानी आज सकल सँवारयौ काज बानी है॥

ऊधव कैं चलत गुपाल उर माहिं चल-
आतुरी मची सो परै कहि न कवीनि सौं ।
कहै रतनाकर हियौ हूँ चलिबैं कौं संग
लाख अभिलाष लै उमहि बिकलीनि सौं ॥
आनि हिचकी ह्वै गरैं बीच सकस्यौई परै
स्वेद ह्वै रस्यौई परै रोम-झँझरीनि सौं ।
आनन-दुवार तैं उसाँस ह्वै बढ्यौई परै
आँस ह्वै कढ्यौई परै नैन-खिरकीनि सौं ॥

—

आइ ब्रज-पथ रथ ऊधौ कौं चढ़ाइ कान्ह
अकथ कथानि की व्यथा सौं अकुलात हैं।
कहै रतनाकर बुझाइ कछु रोकैं पाय
पुनि कछु ध्याइ उर धाइ उरझात हैं॥
उससि उसाँसनि सौं बहि बहि आँसुनि सौं
भूरि भरे हिय के हुलास न उरात हैं।
सीरे तपे बिबिध सँदेसनि की बातनि की
घातनि की झोंक मैं लगेई चले जात हैं॥

लै कै उपदेस-औ-सँदेस-पन ऊधौ चले
सुजस-कमाइबैं उछाह-उदगार मैं ।
कहै रतनाकर निहारि कान्ह कातर वै
आतुर भए यौं रह्यौ मन न सँभार मैं ॥
ज्ञान-गठरी की गाँठि छरकि न जान्यौ कब
हरैं हरैं पूँजी सब सरकि कछार मैं ।
डार मैं तमालनि की कछु बिरमानी अरु
कछु अरुझानी है करीरनि के झार मैं ॥

उद्धव
शतक

श्री उद्धव के व्रज में पहुँचने के समय के कवित्त

उद्धव
शतक

धाईं धाम-धाम तैं अवाई सुनि ऊधव की
बाम-बाम लाख अभिलाषनि सौं भ्वै रहीं ।
कहै रतनाकर पै विकल बिलोकि तिन्हैं
सकल करेजौ थामि आपुनपौ ख्वै रहीं ॥
लेखि निज-भाग-लेख रेख तिन आनन की
जानन की ताहि आतुरी सौं मन म्वै रहीं ।
आँस रोकि साँस रोकि पूछन-हुलास रोकि
मूरति निरास की सी आस-भरी ज्वै रहीं ॥

भेजे मनभावन के ऊधव के आवन की
सुधि ब्रज-गावनि मैं पावन जबै लगीं।
कहै रतनाकर गुवालिनि की झौरि-झौरि
दौरि-दौरि नंद-पौरि आवन तबै लगीं॥
उझकि-उझकि पद-कंजनि के पंजनि पै
पेखि पेखि पाती छाती छोहनि छबै लगीं।
हमकौं लिख्यौ है कहा, हमकौं लिख्यौ है कहा,
हमकौं लिख्यौ है कहा कहन सबै लगीं॥

देखि देखि आतुरी बिकल ब्रज-बारिन की
ऊधव की चातुरी सकल बहि जाति हैं।
कहै रतनाकर कुसल कहि पूछि रहे
अपर सनेस की न बातैं कहि जाति हैं॥
मौन रसना है जोग जदपि जनायौ सबै
तदपि निरास-बासना न गहि जाति हैं।
साहस कै कछुक उमाहि पूछिबै कौं ठाहि
चाहि उत गोपिका कराहि रहि जाति हैं॥

दीन दसा देखि ब्रज-बालनि की ऊधव कौ
गरि गौ गुमान ज्ञान गौरव गुठाने से ।
कहै रतनाकर न आए मुख बैन नैन
नीर भरि ल्याए भए सकुचि सिहाने से ॥
सूखे से स्रमे से सकबके से सके से थके
भूले से भ्रमे से भभरे से भकुवाने से ।
हौले से हले से हूल-हूले से हिये मैं हाय
हारे से हरे से रहे हेरत हिराने से ॥

मोह-तम-रासि नासिबे कौं स-हुलास चले
ब्रह्म कौ प्रकास पारि मति रति-माती पर ।
कहै रतनाकर पै सुधि उधिरानी सबै
धूरि परी धीर जोग-जुगति-सँघाती पर ॥
चलत विषम लागी बात ब्रज-बारिनि की
बिपति महान परी ज्ञान-बरी बाती पर ।
लच्छ हुते सकल बिलोकत अलच्छ रहे
एक हाथ पाती एक हाथ दिए छाती पर ॥

श्री उद्धव-वचन व्रजवासियों से

उद्धव
शतक

चाहत जो स्ववस सँजोग स्याम-सुंदर को
जोग के प्रयोग मैं हियो तौ बिलस्यो रहै ।
कहै रतनाकर सु-अंतर-मुखी ह्वै ध्यान
मंजु हिय-कंज-जगी जोति मैं धस्यौ रहै ॥
ऐसैं करी लीन आतमा कौं परमातमा मैं
जामैं जड़-चेतन-बिलास बिकस्यौ रहै ।
मोह-बस जोहत बिछोह जिय जाकौ छोहि
सो तौ सब-अंतर निरंतर बस्यौ रहै ॥

पंच तत्त्व मैं जो सच्चिदानंद की सत्ता सो तौ
हम तुम उनमैं समान ही समोई है।
कहै रतनाकर विभूति पंच-भूत हू की
एक ही सी सकल प्रभूतनि मैं पोई है॥
माया के प्रपंच ही सौं भासत प्रभेद सबै
काँच-फलकनि ज्यौं अनेक एक सोई है।
देखौ भ्रम-पटल उघारि ज्ञान-आँखिनि सौं
कान्ह सब ही मैं कान्ह ही मैं सब कोई है॥

३१

जोइ कान्ह सोइ तुम सोइ सबही मैं लसौ
घट-घट-अंतर अनंत स्यामघन कौ।
कहै रतनाकर न भेद-भावना सौं भरौ
वारिधि औ बूँद के बिचारि बिछुरन कौ॥
अविचल चाहत मिलाप तौ बिलाप त्यागि
जोग-जुगती करि जुगावौ ज्ञान-धन कौ।
जीव आतमा कौं परमातमा मैं लीन करौ
छीन करौ तन कौं न दीन करौ मन कौं॥

सुनि-सुनि ऊधव की अकह कहानी कान
कोऊ थहरानी, कोऊ थानहिँ थिरानी हैं।
कहै रत्नाकर रिसानी, बररानी कोऊ
कोऊ बिलखानी, बिकलानी, बिथकानी हैं॥
कोऊ सेद-सानी, कोऊ भरि दृग-पानी रहीं
कोऊ घूमि-घूमि परीं भूमि मुरझानी हैं।
कोऊ स्याम स्याम कै बहकि बिललानी कोऊ
कोमल करेजौ थामि सहमि सुखानी हैं॥

—

गोपी-वचन उद्धव-प्रति

रस के प्रयोगनि के सुखद सु जोगनि के
जेते उपचार चारु मंजु सुखदाई हैं।
तिनके चलावन की चरचा चलावै कौन
देत ना सुदर्सन हूँ यौं सुधि सिराई हैं॥
करत उपाय ना सुभाय लखि नारिनि कौ
भाय क्यौं अनारिनि कौ भरत कन्हाई हैं।
ह्याँ तौ विषमज्वर-वियोग की चढ़ाई यह
पाती कौन रोग की पठावत दवाई हैं॥

ऊधौ कहौ सूधौ सौ सनेस पहिलैं तौ यह
प्यारे परदेस तैं कबै धौं पग पारिहैं ।
कहै रतनाकर तिहारी परि बातनि मैं
मीड़ि हम कबलौं करेजा मन मारिहैं ॥
लाइ-लाइ पानी छाती कब लौं सिरैहैं हाय
धरि-धरि ध्यान धीर कब लगि धारिहैं ।
बैननि उचारिहैं उराहनौ कबै धौं सबै
स्याम कौ सलोनौ रूप नैननि निहारिहैं ॥

षटरस-व्यंजन तौ रंजन सदा ही करैं
ऊधौ नवनीत हूँ स-प्रीति कहूँ पावैं हैं ।
कहै रतनाकर बिरद तौ बखानैं सबै
साँची कहौ केते कहि लालन लड़ावैं हैं ॥
रतन-सिंहासन बिराजि पाकसासन ज्यौं
जग-चहूँ-पासनि तौ सासन चलावैं हैं ।
जाइ जमुना-तट पै कोऊ बट-छाहिं माहिं
पाँसुरी उमाहि कबौं बाँसुरी बजावैं हैं ॥

कान्ह-दूत कैधौं ब्रह्म-दूत ह्वै पधारे आप

धारे मन फेरन कौ पनि ब्रजवारी कौ।

कहै रतनाकर पै प्रीति-रीति जानत ना

ठानत अनीति आनि नीति लै अनारी कौ॥

मान्यौ हम, कान्ह ब्रह्म एक ही, कह्यौ जो तुम,

तौहूँ हमैं भावति न भावना अन्यारी की।

जैहै बनि-बिगरि न बारिधिता बारिधि की

बूँदता बिलैहै बूँद बिबस बिचारी की॥

जब रहौ ऊधौ मूधौ पथ मथुरा कौ गहौ
कहौ ना कहानी जौ विविध कहि आए हौ।
कहै रत्नाकर न बूझिहैं बुझाएँ हम
करत उपाय वृथा भारी भरमाए हौ॥
सरल स्वभाव मृदु जानि परौ ऊपर तैं
पर उर घाय करि लौन सौ लगाए हौ।
रावरी गुराई मैं भरी है कुटिलाई कूरि
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ॥

चुप रहौ ऊधौ सूधौ पथ मथुरा कौ गहौ
कहौ ना कहानी जो विविध कहि आए हौ।
कहै रतनाकर न बूझिहैं बुझाएँ हम
करत उपाय वृथा भारी भरमाए हौ॥
सरल स्वभाव मृदु जानि परौ ऊपर तैं
पर उर घाय करि लौन सौ लगाए हौ।
रावरी सुधाई मैं भरी है कुटिलाई कूटि
बात की मिठाई मैं लुनाई लाइ ल्याए हौ॥

नेम व्रत संजम के पींजरैं परे को जब
लाज-कुल-कानि-प्रतिबंधहिं निवारि चुकीं ।
कौन गुन गौरव कौ लंगर लगावै जब
सुधि बुधि ही कौ भार टेक करि टारि चुकीं ॥
जोग-रतनाकर मैं साँस घूँटि बूड़ै कौन
ऊधौ हम सूधौ यह बानक बिचारि चुकीं ।
मुक्ति-मुकता कौ मोल माल ही कहा है जब
मोहन लला पै मन-मानिक ही वारि चुकीं ॥

ल्याए लादि बादि ही लगावन हमारे गरैं
हम सब जानी कही सुजस-कहानी ना।
कहै रतनाकर गुनाकर गुबिंद हूँ कैं
गुननि अनंत बाँधि सिमिटि समानी ना॥
हाय बिन मोल हूँ बिकी न मग हूँ मैं कहूँ
तापै बटपार-टोल लोल ह्वै लुभानी ना।
ऐसी मिली मुकति मधू घर के कूबर मैं
ऊबर भई जो मधुपुर मैं समानी ना॥

रंग-रूप-रहित लखात सबही हैं हमैं
वैसो एक और ध्याइ धीर धरिहैं कहा।
कहै रतनाकर जरी हैं बिरहानल मैं
और अब जोति कौं जगाइ जरिहैं कहा॥
राखौ धरि ऊधौ उतै अलख अरूप ब्रह्म
तासौं काज कठिन हमारे सरिहैं कहा।
एक ही अनंग साधि साध सब पूरीं अब
और अंग-रहित अराधि करिहैं कहा॥

वे तो बस बसन रँगावैं मन रंगत ये
भसम रमावैं वे ये आपुहीं भसम हैं ।
मास सांस माहिँ बहु बासर बितावत वे
इनकैं प्रतेक सांस जात ज्यौं जनम हैं ॥
ह्वै कै जग-भुक्ति सौं विरक्त मुक्ति चाहत वे
जानत ये भुक्ति मुक्ति दोऊ विष-सम हैं ।
करिकै विचार ऊधौ सूधौ मन माहिँ लखौ
जोगी सौं वियोग-भोग-भोगी कहा कम हैं ॥

जोग को रमावै औ समाधि को जगावै इहाँ
दुख-सुख-साधनि सौं निपट नियेरी हैं।
कहै रतनाकर न जानैं क्यौं इतै धौं आइ
साँसनि की सासना की बासना बखेरी हैं॥
हम जमराज की धरावतिं जमा न कछू
सुर-पति-संपति की चाहतिं न हेरी हैं।
चेरी हैं न ऊधौ! काहू ब्रह्म के बबा की हम
सूधौ कहे देतिं एक कान्ह की कमेरी हैं॥

[illegible] न चाहैं अपराग न चाहैं सुनौ
भुक्ति-मुक्ति दोऊ सौं विरक्ति उर आनैं हम ।
[illegible] सिहारें जोग-रोग मारि
तन मन सांसनि की सांसति मसानैं हम ॥
[illegible] कृपा-मंद-मुसकानि हीं मैं
लोक परलोक को अनंद जिय जानैं हम ।
[illegible] या वियोग-दुख हू पैं सुख ऐसौ कछू
जाहि पाइ ब्रह्म-सुख हू पैं दुख मानैं हम ॥

५६

ऊधौ जम-जातना की बात ना चलावौ नैंकु
अब दुख सुख कौ विवेक करिबौ कहा।
प्रेम-रतनाकर-गंभीर-परे मीननि कौं
इहिं भव-गोपद की भीति भरिबौ कहा॥
एकै बार लैहैं मरि मीच की कृपा सौं हम
रोकि-रोकि साँस बिनु मीच मरिबौ कहा।
छिन छिन भोगी कान्ह-बिरह-बलाय तिन्हैं
नरक-निकाय की धरक धरिबौ कहा॥

जोगिनि की भोगिनि की बिकल बियोगिनि की
जग मैं न जागती जमातैं रहि जाइँगी ।
कहै रतनाकर न सुख के रहैं जो दिन
तौ ये दुख-द्वंद की न रातैं रहि जाइँगी ॥
प्रेम नेम छाँड़ि ज्ञान-छेम जो बतावत सो
भीति ही नहीं तौ कहा छातैं रहि जाइँगी ।
घातैं रहि जाइँगी न कान्ह की कृपा तैं इती
ऊधौ कहिबे कौं बस बातैं रहि जाइँगी ॥

कठिन करेजौ जो न करक्यौ वियोग होत
तापर तिहारौ जंत्र मंत्र खँचिहै नहीं ।
कहै रतनाकर बरी हैं बिरहानल मैं
ब्रह्म की हमारैं जिय जोति जँचिहै नहीं ॥
ऊधौ ज्ञान-भान की प्रभानि ब्रजचंद बिना
चहकि चकोर चित चोपि नचिहै नहीं ।
स्याम-रंग-राँचे साँचे हिय हम ग्वारिनि कै
जोग की भगौंहीं भेष-रेख रँचिहै नहीं ॥

५५

जोहैं अभिराम स्याम चित की चमक ही मैं
और कहा ब्रह्म की जगाइ जोति जोहैंगी।
कहै रतनाकर तिहारी बात ही सौं रुकी
सांस को न सांसनि कै औरी अवरोहैंगी ॥
आपुही भई हैं मृगछाला ब्रज-बाला सुखि
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैंगी।
ऊधौ मुक्ति-माल वृथा मढ़त हमारे गरैं
कान्ह बिना तासौं कहौ काको मन मोहैंगी ॥

जाहि अभिराम स्याम चित की चमक ही में
और कहा ग्रन्थ की जगाइ जोति जोहैं गी।
कहै रतनाकर निहारे बान ही सौं रुकी
सांस की न सांसनि कै औरौं अवरोहैं गी॥
आपदा भई हैं मृगछाला ब्रज-बाला मृति
तिनपै अपर मृगछाला कहा सोहैं गी।
ऊधौ मुक्ति-माल वृथा मढ़त हमारे गरैं
कान्ह बिना नागौं कहौ काकौ मन मोहैं गी॥

गुनी गुनी सबकौं निहारी चतुराई जिती
कान्ह की पढ़ाई कविताई कूबरी की हैं।
कहै रतनाकर त्रिकाल हू त्रिलोक हू मैं
आनैं आन नैंकु ना त्रिदेव की कही की हैं॥
कहति प्रतीति प्रीति नीति हूँ त्रिवाचा बाँधि
ऊधौ साँच मन की हिये की अरु जी की हैं।
वे तो हैं हमारे ही हमारे ही हमारे ही औ
हम उनही की उनही की उनही की हैं॥

नेम ब्रत संजम कै आसन अखंड लाइ
साँसनि कौं घूँटिहैं जहाँ लौं गिलि जाइगौ।
कहै रतनाकर धरैंगी मृगछाला अरु
धूरि हूँ दरैंगी जऊ अंग छिलि जाइगौ॥
पाँच-आँचि हूँ की झार झेलिहैं निहारि जाहि
रावरौ हू कठिन करेजौ हिलि जाइगौ।
सहिहैं तिहारे कहैं साँसति सबै पै बस
एतौ कहि देहु कै कन्हैया मिलि जाइगौ॥

साधि लैहैं जोग के जटिल जे बिधान ऊधौ
बाँधि लैहैं लंकनि लपेटि मृगछाला हूँ।
कहै रतनाकर सु मेलि लैहैं छार अंग
झेलि लैहैं ललकि घनेरे घाम पाला हूँ॥
तुम तौ कही औ अनकही कहि लीनी सबै
अब जौ कहौ तौ कहैं कछु ब्रज-बाला हूँ।
ब्रह्म मिलिबैं तें कहा मिलिहै बतावौ हमें
ताकौ फल जब लौं मिलै ना नंदलाला हूँ॥

कान्ह हूँ सौं आन ही बिधान करिबैं कौं ब्रह्म
मधुपुरियानि की चपल कँखियाँ चहैं
कहै रतनाकर हँसैं कै कहा रोवैं अब
गगन-अथाह-थाह लेन मखियाँ चहैं ॥
अगुन-सगुन-फंद-बंद निरवारन कौं
धारन कौं न्याय की नुकीली नखियाँ चहैं ।
मोर-पँखियाँ कौ मौर-वारौ चारु चाहन कौं
ऊधौ अँखियाँ चहैं न मोर-पँखियाँ चहैं ॥

हाँन जात्यौ हरकि परकि उर सोग जात्यौ
जोग जात्यौ सरकि सकंप कँखियानि तैं ।
कहै रतनाकर न लेखते प्रपंच ऐंठि
बैठि धरा लेखते कहूँधौं नखियानि तैं ॥
रहते अदेख नाहिं वेष वह देखत हूँ
देखत हमारो जान मोर पँखियानि तैं ।
ऊधौ ब्रह्म-ज्ञान कौ बखान करते ना नैंकु
देख लेते कान्ह जौ हमारी अँखियानि तैं ॥

१६

चाव सौं चले हौ जोग-चरचा चलाइबे कौं
चपल चितौनि तैं चुचात चित-चाह है।
कहै रतनाकर पै पार ना बसैहै कछू
हेरत हिरैहै भर्यौ जो उर उछाह है॥
आंट लौं टिटेहरी के जैहै जू विवेक बहि
फेरि लहिबे को ताके तनक न राह है।
यह वह सिंधु नाहिं सोखि जो अगस्त लियौ
ऊधौ यह गोपिनि के प्रेम कौ प्रवाह है॥

प्रेम-पाल पलटि उलटि पतवारी-पति
केवट पराच्यौ कूब-तूँबरी अधार लै।
कहै रतनाकर पठायौ तुम्हैं तापै पुनि
लादन कौं जोग कौ अपार अति भार लै॥
निरगुन ब्रह्म कहौ रावरौ बनैहै कहा
ऐहै कछु काम हूँ न लंगर लगार लै।
विषम चलावौ ज्ञान-तपन-तपी ना वात
पारौ कान्ह तरनी हमारी मँझधार लै॥

एते दूरि देसनि सौं सखनि-सँदेसनि सौं
लखन चहैं जो दसा दुसह हमारी है।
कहैं रतनाकर पै बिषम बियोग-बिथा
सबद-बिहीन भावना की भावतारी है॥
आनैं उर अंतर प्रतीति यह तातैं हम
रीति नीति निपट भुजंगनि की न्यारी है।
आँखिनि तैं एक तौ सुभाव सुनिबै कौ लियौ
काननि तैं एक देखिबै की टेक धारी है॥

सुधि बुधि जातिँ उड़ी जिनकी उसाँसनि सौं
तिनकौं पठायौ कहा धीर धरि पाती पर।
कहै रतनाकर त्यौं बिरह-बलाय दाइ
मुहर लगाइ गए सुख-थिर-थाती पर॥
और जो कियौ सो कियौ ऊधौ पै न कोऊ बियौ
ऐसी घात घूनी करै जनम-सँघाती पर।
कूबरी की पीठ तैं उतारि भार भारी तुम्हैं
भंज्यौ ताहि थापन हमारी छीन छाती पर॥

सुघर सलौने स्यामसुंदर सुजान कान्ह
करुना-निधान के बसीठ बनि आए हौ।
प्रेम-प्रनधारी गिरिधारी कौ सँदेसौ नाहिं
होत है अँदेसौ झूठ बोलत बनाए हौ॥
ज्ञान-गुन-गौरव-गुमान-भरे फूले फिरौ
बंचक के काज पै न रंचक बराए हौ।
रसिक-सिरोमनि कौ नाम बदनाम करौ
मेरी जान ऊधौ कूर-कूबरी-पठाए हौ॥

कान्ह दूती के हिय-हुलसे-सरोजनि तैं
अमल अनेह-मकरंद जो ढरारै है।
कहैं, रतनाकर, यौं गोपी उर सचि तारि
तामैं पुनि आपनौ प्रपंच रंच पारै है॥
ब्याइ निरगुन-गुन गाइ ब्रज मैं जो अब
ताकौं उदगार ब्रह्मज्ञान-रस गारै है।
मिलि सो तिहारौ मधु मधुप हमारैं नेह
देह मैं अछेह विष विषय पसारै है॥

माना अमगुन कौं कटाई नाक एक बेरि
माढ़ करि कूर राधिका पै फेरि फाटी है।
कहै रतनाकर परेखौ नाहिं याकौ नैंकु
ताकौ तौ सदा कौ यह पाकौ परिपाटी है॥
साच है यहै कै संग ताके रंगभौन माहिं
कौन धौं अनोखौ ढंग रचत निराटी है।
खाटि देत कूबर कै आँटि देत खोट कोऊ
फाटि देत खाट किधौं पाटि देत पाटी है॥

कंस के कर सों जदुवंस को बताइ उन्हैं
तैसैं हीं प्रसंसि कुबजा पै ललचायौ जो ।
रहे रतनाकर न मुष्टिक चनूर आदि
मल्लनि कौ ध्यान आनि हिय कसकायौ जो ॥
नंद जसुदा की सुखमूरि करि धूरि सबै
गोपी ग्वाल गैयनि पै गाज लै गिरायौ जो ।
हाय रहे क्रूर जो न जानैं करते धौं कहा
एतौ क्रूर करम अक्रूर है कमायौ जो ॥

नातौ ब्रजजीवन सौं जीवन हमारौ हाय
जानैं कौन जीव लै उहाँ के जन जनमैं ।
है रतनाकर बतावन कछू को कछू
ल्यावत न नैंकु हूँ बिबेक निज मन मैं ॥
अँखियनि उघारि ऊधौ करहु अलच्छ लच्छ
इत पसु-पच्छिनि हूँ लाग है लगन मैं ।
काहू को न मोह करैं ब्रह्म की समीहा सुनौ
पीहा-पीहा रटत पपीहा मधुबन मैं ॥

पुरतीँ न जोपै मोर-चद्रिका किरीट-काज
　　जुरतीँ कहा न काँच किरचैँ कुभाय की ।
कहै रतनाकर न भावते हमारे नैन
　　तौ न कहा पावते कहूँधौं ठाँय पाय की ॥
मान्यौ हम मान कैं न मानती मनाएँ वेगि
　　कीरति-कुमारी सुकुमारी चित-चाय की ।
याही सोच माहिँ हम होतिँ दूबरी कैं कहा
　　कूबरी हु होती ना पतोहू नंदराय की ॥

उद्धव शतक

हरि-तन-पानिप के भाजन दृगंचल तैं
उमगि तपन तैं तपाक करि धावैं ना ।
कहै रतनाकर त्रिलोक-ओक-मंडल मैं
वेगि ब्रह्मद्रव उपद्रव मचावैं ना ॥
हर कौं समेत हर-गिरि के गुमान गारि
पल मैं पतालपुर पैठन पठावैं ना ।
फैले बरसाने मैं न रावरी कहानी यह
बानी कहूँ राधे आधे कान सुनि पावैं ना ॥

आतुर न होहु ऊधौ आवति दिवारी अबै
बैसियै पुरंदर-कृपा जौ लहि जाइगी।
होत नर ब्रह्म ब्रह्म-ज्ञान सौं बतावत जो
कछु इहिँ नीति की प्रतीति गहि जाइगी॥
गिरिवर धारि जौ उबारि ब्रज लीन्यौ बलि
तौ तौ भाँति काहूँ यह बात रहि जाइगी।
नातरु हमारी भारी बिरह-बलाय-संग
सारी ब्रह्म-ज्ञानता तिहारी बहि जाइगी॥

आवन दिवारी बिलखाइ ब्रज-वारी कहैं
अबकैं हमारैं गावँ गोधन पुजैहैं को ।
कहै रतनाकर विविध पकवान चाहि
चाह सौं सराहि चख चंचल चलैहैं को ॥
निपट निहोरि जोरि हाथ निज साथ ऊधौ
दमकति दिव्य दीपमालिका दिखैहैं को ।
कूबरी के कूबर तैं उबरि न पावैं कान्ह
इंद्र-कोप-लोपक गुबर्धन उठैहैं को ॥

विकसित विपिन बसंतिकावली कौ रंग
लखियत गोपिनि के अंग पियराने मैं ।
बौरे बृंद लसत रसाल-बर बारिनि के
पिक की पुकार है चबाव उमगाने मैं ॥
होत पतझार झार तरुनि समूहनि कौ
बैहरि बतास लै उसास अधिकाने मैं ।
काम-बिधि बाम की कला मैं मीन-मेष कहा
ऊधौ नित बसत बसंत बरसाने मैं ॥

ताप ताप जीवन-विहीन दीन दीसैं सबै
चलति चबाई-बात तापन घनी रहै।
कहै रतनाकर न चैन दिन-रैन परै
सूखी पत्र-हीन पै लगनि बनी रहै॥
तारनी-श्रम अब तौ बिचारौ है इहाँ कौ पर्यौ
तातैं नाहि जारन की उमक बनी रहै।
बगर-बगर बृषभान के नगर नित
भीषम-प्रभाव ऋतु ग्रीषम बनी रहै॥

रहति सदाई हरियाई हिय-घायनि मैं
ऊरध उसास सो झकोर पुरवा की है।
पीव-पीव गोपी पीर-पूरित पुकारति हैं
सोई रतनाकर पुकार पपिहा की है॥
लागी रहै नैननि सौं नीर की झरी औ
उठै चित मैं चमक सो चमक चपला की है।
बिनु घनस्याम धाम-धाम ब्रज-मंडल मैं
ऊधौ नित बसति बहार बरसा की है॥

८१

लाल घनस्याम के ललाम दृग-कंज-पांति
मेरी दिग-भाग-भौंर-भौंर की घनी रहै।
कहै रतनाकर बिरह-बिधु बाम भयौ
चंद्रहास तानै घात घालन घनी रहै ॥
सीत-घाम-बरषा-बिचार बिनु आनै ब्रज
पंचबान-बाननि की उमड़ बनी रहै।
काम बिधना सौं लहि फरद दवामी सदा
दरद दिबैया ऋतु सरद बनी रहै ॥

रीते परे सकल निषंग कुसुमायुध के
दूरि दुरे कान्ह पै न तातैं चलै चारौ है।
कहैं रतनाकर बिहाइ बर मानस कौं
लीन्यौ है हुलास-हंस बास दूरिवारौ है॥
पाला परें आस पै न भावन बनास बारि
जात कुम्हिलात हियौ कमल हमारौ है।
षट ऋतु ह्वै हैं कहूँ अनत दिगंतनि मैं
इत तौ हिमंत कौ निरंतर पसारौ है॥

११

मानै जब नैंकु ना मनाएं मनमोहन के
तौपै मन-मोहिनि मनाए कहा मानौ तुम ।
कहै रतनाकर मलीन मकरी लौं निज
आपुनौहीं जाल आपने हीं पर तानौ तुम ॥
कबहुँ परै न नैन-नीर हू के फेर माहिं
बैरिनी सनेह-सिंधु माहिं कहा गानौ तुम ।
आनन न जाकै है षडानन अलख ताहि
तौपै भला भेष कौं मनच्छ कहा जानौ तुम ॥

नंद जसुदा औ गाय गोप गोपिका की कछू
बात वृषभान-भौन हूँ की जनि कीजियौ ।
कहै रतनाकर कहति सब हा हा खाइ
ह्याँ के परपंचनि सौं रंच न पसीजियौ ॥
आँस भरि ऐहै औ उदास मुख ह्वैहै हाय
ब्रज-दुख-त्रास की न तातैं साँस लीजियौ ।
नाम कौ बताइ औ जताइ गाम ऊधौ बस
स्याम सौं हमारी राम-राम कहि दीजियौ ॥

उद्धव

गोपिका

ऊधौ यहै सूधौ सौ संदेस कहि दीजौ एक
जानति अनेक न विवेक ब्रज-बारी हैं।
कहै रतनाकर असीम रावरी तौ छमा
छमता कहाँ लौं अपराध की हमारी हैं॥
दीजै और ताजन सबै जो मन भावै पर
कीजै न दरस-रस-बंचित बिचारी हैं।
भली हैं बुरी हैं औ सलज्ज निरलज्ज हू हैं
जो कहौ सो हैं पै परिचारिका तिहारी हैं॥

कोउ जोरि हाथ कोउ नाइ नम्रता सौं माथ
भाषन की लाख लालसा सौं नहि जात हैं।
कहै रतनाकर चलत उठि ऊधव के
कातर है प्रेम सौं सकल महि जात हैं॥
सबद न पावत सो भाव उमगावन जो
ताकि-ताकि आनन ठगे से ठहि जात हैं।
रंचक हमारी सुनौ रंचक हमारी सुनौ
रंचक हमारी सुनौ कहि रहि जात हैं॥

कोऊ चले काँपि संग कोऊ उर चाँपि चले
　　कोऊ चले कछुक अलापि हलबल मैं ।
कहै रतनाकर सुदेस तजि कोऊ चले
　　कोऊ चले कहत संदेस अबिरल मैं ॥
आँस चले काहू के सु काहू के उसाँस चले
　　काहू के हियै पै चंद्रहास चले हल मैं ।
ऊधव कैं चलत चलाचल चली यौं चल
　　अचल चले औ अचले हू भए चल मैं ॥

दीन्यौ प्रेम-नेम-गरुवाई-गुन ऊधव कौं
हिय सौं हपेत-हरुवाई बहिराइ कै।
कहै रतनाकर त्यौं कंचन बनाइ काय
ज्ञान-अभिमान की तपाइ बिनसाइ कै॥
बातनि की धौंक सौं धमाइ चहूँ कोदनि सौं
निज बिरहानल तपाइ पघिलाइ कै।
गोप की बधूटी प्रेम-बूटी के सहारे मारे
चल-चित-पारे की भसम भुरकाइ कै॥

—

उद्धव के व्रज से लौटते समय के कवित्त

गोपी, ग्वाल, नंद, जसुदा सौं तौ बिदा ह्वै उठे
उठत न पाय पै उठावन दगन हैं।
कहै रतनाकर सँभारि सारथी पै नीठि
दीठिनि बचाइ चल्यौ चोर ज्यौं भगत हैं॥
कुंजनि की कूल की कलिंदी की रुंदी दसा
देखि देखि आँस औ उसाँस उमगत हैं।
रथ तैं उतरि पथ पावन जहाँ हीं तहाँ
बिकल बिसूरि धूरि लोटन लगत हैं॥

उद्धव
शतक

भूले जोग-छेम प्रेम-नेमहिँ निहारि ऊधौ
सकुचि समाने उर-अंतर हरास लौं।
कहै रतनाकर प्रभाव सब ऊने भए
सूने भए नैन बैन अरथ-उदास लौं॥
माँगी बिदा माँगत ज्यौं मीच उर भीचि कोऊ
कीन्यौ मौन गौन निज हिय के हुलास लौं।
बिथकित साँस लौं चलत रुकि जात फेरि
आँस लौं गिरत पुनि उठत उसास लौं॥

—

उद्धव के मथुरा लौट आने के समय के कवित्त

चल-चित-पारद की दंभ-कंचुली कै दूरि
ब्रज-मग-धूरि प्रेम-मूरि सुभ-सीली है।
कहै रतनाकर सु जोगनि विधान भाँति
अपने प्रमान ज्ञान-गंधक गुनीली है॥
तापि मद-अंतर की आह-धूप धारि सबै
गोपी विरहागिनि निरंतर जगीली है।
आए लौटि ऊधव विभूति भव्य भायनि की
कायनि की रुचिर रसायन रसीली है॥

भाए सौहि लज्जित नवाए नैन ऊधौ अब
सब सुख-साधन कौ सूधौ सौ जतन लै ।
कहै रतनाकर गवाँए गुन गौरव औ
गरब-गढ़ी कौ परिपूरन पतन लै ॥
छाए नैन नीर पीर-कसक कमाए उर
दीनता अधीनता के भार सौं नतन लै ।
प्रेम रस रुचिर विराग-तुमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै ॥

आए दौरि पौरि लौं अवाई सुनि ऊधव की
और ही बिलोकि दसा दृग भरि लेत हैं।
कहै रतनाकर बिलोकि बिलखात उन्हें
येऊ कर कांपत करेजैं धरि लेत हैं॥
आवति कछूक पूछिबे औ कहिबे की मन
परत न साहस पै दोऊ दरि लेत हैं।
आनन उदास सांस भरि उकसौहैं करि
सौंहैं करि नैननि निचौहैं करि लेत हैं॥

आए सौंहि लज्जित नवाए नैन ऊधौ अब
सब सुख-साधन कौ सूधौ सौ जतन लै ।
कहै रतनाकर गँवाए गुन गौरव औ
गरब-गठी कौ परिपूरन पतन लै ॥
छाए नैन नीर पीर-कसक कमाए उर
दीनता अधीनता के भार सौं नमन लै ।
प्रेम-रस रुचिर बिराग-तूमड़ी मैं पूरि
ज्ञान-गूदड़ी मैं अनुराग सौ रतन लै ॥

तूँबरी = तुम्बी, (कद्दू की) जो तैरने में भी काम आती है।
तपेला = गरम करने का पात्र
तीन-तेरह / तीन-पाँच = विलग होना, दूर होना
तकनि = दृग, तकनियो
तापन = तपन
तमाई = तमोगुण-युक्त अन्धकार, तामसपन,
तार = झिलमिला

थ

थकियो = थाह लेना
थामि = पकड़ कर
थानहिं = स्थान ही में
थिरानी = स्थिर हो गई
थिर = स्थिर
थाती = न्यास, धरोहर
थापन = स्थापित करने को
थाके = थके हुए
थिराये = स्थिर किये

द

दीस्यो = दिखाई पड़ा
दुवार = द्वार, दरवाज़ा
दरियो = मसलना
दरिबे = नाश करने
दीनी = दीनतापन
दिख-साध = देखने की इच्छा
दवागी = दावाग्नि, वन की आग
दीठि = दृष्टि
दंभ = छल, कपट
दरि = दमन करना, दबाना
दरेरनि = रगड़, रेल-पेल
द्रवे = पिघले हुए
दुरे = छिपे, दूर हो गये
दाट = सहायक लकड़ी

ध

धरक = भय
धौंक = धौंकना

न

निफल = निष्फल
निवारि = दूर या अलग करके
निवेरी = निवृत्त
निरवैहैं = निबाहेंगी
निरवारन = सुलझाने, खोलने
नखियाँ = नख, नाखून
नाव = नौका
नारिन = स्त्रियाँ, नारी
निहोरि = निहोरा करना, एहसान करना

मँचे = मान रहीं
मींड़ि = मलकर
मरीचि = किरणें
मीचु = मृत्यु
मढ़न = गले लगाना
मधुपुरियान = मथुरावासी
माखियाँ = मक्खियाँ
मुहूर्त = एक मात्रा
मुकुर = शीशा
मूढ़ = मूर्ख, जड़
मीन-मेख = "मीन मेखे षमन्तम्" चल-तत्त्व मीन और मेष में सूर्य के आने पर होती है, सोच-विचार क्या है—
माधव = कृष्ण, बसंत
मारें = नष्ट किये, दमन किये,
माते = मस्त, प्रमत्त

र

रस्योई = रसना, बूँद २ गिरना
रत्नाकर = समुद्र, कवि का उपनाम
रँचै = रंजित
रस = रसायन (औषधि) मन के रस, प्रेम
रीते = खाली
रुदंती = रोदनमयी
रावरे = आपके
रेती = रेतीली जगह

ल

लगाय = सम्बन्ध
लंकनि = कमर
लेखते = लिखते (पृथ्वी पर लिखना मुहावरा है)
लगार = रस्सी, लगाव कराने-वाली चीज़
लवाई = आग,
लापक = लोपकारी
लच्छ = लक्ष्य, उद्देश्य
लौन = नमक

व

वियोग = बिछोह, योग-रहित, विकलता
वे = अमर के स्थान पर आया है।
वेऊ = वे भी

श

शृंगनि = चोटियों

स

सुघात = सुन्दर बातें, हवा,
सकस्योई = सकसना, खटकना

सियाने = सीमा पर
सिहाने = ललचाये
सकै = शंकित
संद = पसीना
सनेस = संदेश
सिरैहैं = ठंडी करेंगी
सासन = शासन
सारन = बुझाने
समीहा = सम् = सब प्रकार + ईहा = इच्छा
सरताज = कृष्ण
सुरवारी = सुस्वर युक्त
सुधियात = स्मरण करते
सारत = पोंछते
सबहि = बारंबार, तत्काल

ससासिंग = खरगोश के सींग, असम्भव बात
सांसति = कष्ट, विपत्ति
सीरो = ठंडा
ससाध = इच्छापूर्वक
सिवान = सीमा, पास
सांठी = सारहीन पदार्थ
सुदर्शन = एक ज्वर-नाशक चूर्ण, सुंदर दर्शन
सिराई = भुलाई, ठंडा करना, समाप्त
स्रांन = कान
संचि = संचित करके

ह

हाँस = इच्छा

हुमसावतीं = उठाना
हीतल = हृदयतल
हौले = धीमे, घबड़ाये
हिलि = कँपना
हीरा-ग्रह काँच = दोनों परस्पर विरोधी हैं, काँच को हीरा काट देता है। अस्तु दोनों साथ नहीं रह सकते।
हुतीं = थीं (हुते = थे।)
हरियाई = हरापन, माधुरी
हलवल = शीघ्रतावश उतावला पड़ना
हमेव = अहम् = मैं + एव = ही मैं ही सब कुछ हूँ।
हरुवाई = हलकापन
हरास = ह्रास

सम्पादक—रामचन्द्र शुक्ल 'सरस'
साहित्य-मन्त्री, रसिक-मंडल, प्रयाग।